# सिद्ध योग

• संस्थापक सम्पादक :-
योगीराजेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

वर्ष १८

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

# इस अंक में—


- न कर्म लिप्यते नरे — १
- वैराग्य के दो साधक (विशेष लेख) — २
  योग-योगेश्वर अनन्त श्री कृष्णमोहन जी महाराज
- योगमार्ग में अशान्ति का अन्त — ८
  डा० श्री जगदीशनारायण द्विवेदी
- पवित्र यज्ञ (निष्काम कर्म-प्रवृत्ति) — ११
  श्री महावीरसिंह
- शब्द ब्रह्माणि वन्दे — १४
  श्री कपिलदेव उपाध्याय
- सत्यं शिवं सुन्दरम् — १७
  स्वामी श्री विद्यातीर्थ जी
- इन्द्रिय संयम — २०
  श्री कृष्णकुमार पाण्डेय
- प्रेम और शरणागति — २२
  श्री विजयशंकर उपाध्याय
- राम बनाम रावण — २६
  ब्रह्मचारी श्री हासलाल
- निर्भय जीवन का महत्व — २८
  आचार्य श्री भद्रसेन
- निद्रा-स्वर — ३२
  श्री अशोक 'व्याकुल'
- गुरु मन्त्र — ३३
  श्री रघुवीरचन्द्र एम० ए०
- शिव — ३५
  श्री जगदीशनारायण खिलगड़ियाँ 'मधुप'
- तत्व-विचार — ३६
  वैद्य श्री रामचन्द्र शर्मा शास्त्री
- योगिराज श्री तैलंग स्वामी — ४१
  श्री कृष्णकुमार पाण्डेय
- यौगिक प्रश्नोत्तरी — ४४


संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'
जून १९८५

वार्षिक मूल्य २५ रुपया। इस अङ्क का ३ रुपये

# सिद्ध योग

**योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र**

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई ( एत्मादपुर ) आगरा।

| | | |
|---|---|---|
| वर्ष १८<br>अङ्क २ | ध्यायं ध्यायं पवित्रं परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,<br>मर्त्यो मृत्योश्च विवरतो, मुक्तिं प्राप्नोति सद्यः।<br>तत्प्राप्त्यर्थं बहुविषयं योगशास्त्रोपदेशान्,<br>कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥ | जून<br>१९८५ |


## ❁ न कर्म लिप्यते नरे ❁

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

—यजु० ४०-२

**अर्थात्**

शब्दार्थ-(कुर्वन्) करता हुआ (एव) निश्चय (इह) संसार में (कर्माणि) कर्मों को (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे (शतम्) सौ (समाः) वर्ष। (एवं) इस प्रकार (त्वयि) तुझ में (न) नहीं (अन्यथा) दूसरी तरह (इतः) इसके अतिरिक्त= सिवाय (अस्ति) है (न) नहीं (कर्म) काम (लिप्यते) लिप्यता है (नरे) मनुष्य में।

इस मन्त्र के द्वारा ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्य! तू निष्काम कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर। तेरे लिए और कोई मार्ग नहीं है। जो कर्म में लिप्त नहीं होता वह 'नर' है।

हमारा विशेष लेख—

# वैराग्य के दो रूपक

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मनुष्य के मन में पूर्ण वैराग्य कैसे पैदा हो—इसके लिए ऊपर लिखे लेख के अनुसार साधक को अपना अभ्यास क्रम अवश्य-अवश्य बनाना चाहिए। जब तक साधक के मन में अन्तर जागृति नहीं होगी, तब तक इन्द्रियों को बाह्य विकारों से निकाल लेना सहज बात नहीं है। भगवान पतंजलिदेव ने योग दर्शन में वैराग्य के दो रूपों का वर्णन किया है। पहला वशीकार संज्ञा वैराग्य एवं दूसरा विवेक ख्याति रूप वैराग्य। उनमें से पहले वशीकार संज्ञा वैराग्य रूप को भगवान श्री पतंजलिदेव ने इस प्रकार समझाया है—

दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात् देखे हुए और सुने हुए दो प्रकार के विषय हुआ करते हैं। देखे हुए विषयों में और सुने हुए विषयों में जो व्यक्ति दृढ़तापूर्वक अपने अभ्यासके बलसे अपनी वासनिक तृष्णा को मार लेता है, वह वशीकार संज्ञा वैराग्य की परा स्थिति को अवश्य पा जाता है। इस सूत्र पर भगवान श्री व्यासदेव जी के भाष्य की निम्नांकित पंक्तियाँ पढ़िये—

स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषय-वितृष्णस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्य विषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोष-दर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात् देखे हुये विषयों में सबसे पहला आकर्षण स्त्रियों का रहता है। इनका रूप लावण्य शरीर के अंग-प्रत्यंगों की रचना एवं सुन्दरता साधक के मन को आकर्षित करने का मोटा साधन रहता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य जिस प्रकार के अन्न का सेवन करता है और रस आदि का पान करता है, उस ही प्रकार का उसकी बुद्धि में उपक्रम बढ़ जाता एवं भाव-जागृति हो जाती है। इन्हीं साधनों को पाकर मनुष्य बाह्य आकर्षणों में फंसकर पतन की ओर चला आया करता है। साधक यदि अपने अभ्यास को नियमित रूप से नियमानुसार करता रहता है और साधन क्रम को ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्द जी के बतलाये हुये क्रम में बांध लेता है, तो स्त्री, अन्नपान आदि देखे हुये विषयों पर अधिकार पा लेता है।

इसके अतिरिक्त दूसरा वासना जाल वह है जिसके विषय में इन्द्रलोकादि के वासनिक भोगोंका वर्णन हम इतिहास एवं पुराण आदि में सुनते पढ़ते रहते हैं। मह . रे के सारे विषय

अनुभविका होते हैं। जिनको सुन-सुन करके मनुष्य का मन स्वर्ग आदि लोक-लोकान्तरों की ओर आकर्षित होता रहता है, किन्तु साधक यदि अन्तर्जगत में प्रवेश करके इन विषयों पर नियन्त्रण करना चाहता तो अवश्य ऐसा कर लेगा। एक और भी स्थिति यह आती है कि साधक के रास्ते में अन्तराय भी अधिक आते ही रहते हैं। किन्तु जो लोग अन्तर्जगत में प्रवेश कर जाते हैं और जो गुरुदेव जी के कृपापात्र रहते हैं वे भी अपने आप पर उस आत्मिक तेज के प्रभाव से अधिकार पा जाया करते हैं। पर ऐसे आकर्षण भी उस व्यक्ति को विचलित करते हैं जो पहले दृष्ट भोगों का उपभोक्ता बन चुका होता है। जो साधक ब्रह्मचर्य आश्रम से ही पूर्ण ब्रह्मचारी है और वासना के दर्शन जिसने किये ही नहीं हैं वह इन सभी जालों को काट डालता है।

साधारणतया योगी जब वितर्कानुगत समाधि से ऊपर उठता है और विचारानुगत योग में प्रवेश करता है तो उसको अनुभविक विषय दृष्टिगत होने लगते हैं। इन विषयों से बचकर पूर्ण गुरु-भक्त एवं पूर्णरूपेण आज्ञापालक बच्चा ही जय पा सकता है। अन्यथा विचलित हो जाने की सम्भावना बराबर बनी रहा करती है। योग-दर्शन का एक सूत्र है कि—

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्।

अर्थात् लोकाधिपति लोग जब योगी को अपने लोक के वासनिक दृश्य दिखाकर उस लोक की तरफ आकर्षित करें तो उनकी बात मान करके न तो उनका संग करना चाहिए और न ही अहंकार करना चाहिए। अहंकृति आने पर योगी का पतन हो जाया करता है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी ने जो भाष्य लिखा है वह भी मनन करने योग्य है—

चत्वारः खल्वमी योगिनः प्राथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति। तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः। ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः। सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कर्तव्यसाधनादिमान्। चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्तभावनीयस्तस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः सप्तविधास्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा।

तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भो इहास्यतामिह रम्यतां कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते वैहायसमिदं यानममी कल्पद्रुमाः पुण्या मन्दाकिनी सिद्धा महर्षय उत्तमा अनुकूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी वज्रोपमः कायः स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता प्रतिपद्यतामिदमक्षयम-

जरममरस्थानदेवानां प्रियमिति एवमभिधीयमानः सङ्गदोषान् भावयेत् । घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथंचिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशी योगप्रदीपस्तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः । स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धकुर्यामिति स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत् ।

सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यादेवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति । स्मयादयं सुस्थितंमन्यतया मृत्युना देशेषु गृहीतमिवात्मानं न भावयिष्यति । तथा चास्य छिद्रान्तरप्रेक्षी नित्यं यत्नोपचर्यः प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति ततः पुनरनिष्टप्रसङ्गः । एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढो भविष्यति । भावनीयश्चार्थोऽभिमुखी भविष्यतीति ।

अर्थात् योगियों की चार श्रेणियाँ होती हैं—(१) कल्पिक, (२) मधुभूमिक, (३) प्रज्ञा ज्योति, (४) अतिक्रान्त भावनीय । पहला योगी प्रवृत्त मार्ग ज्योति और दूसरा ऋतम्भरा प्रज्ञा वाला, तीसरा भूतेन्द्रजयी और चौथा योगी वह कहलाता है जो अपनी भावित भावनीय पदार्थों में पूरा अधिकार प्राप्त कर लेता है ।

इन सभी भूमियों का क्रमशः साक्षात्कार करता हुआ योगी आगे बढ़ता है, तो लोकाभिमानी देवता उसकी पूर्ण सत्व शुद्धि को देख करके अपने-अपने लोकके लिए निमन्त्रित करते हैं और प्रार्थना करके उससे कहते हैं कि आप यहाँ बैठ जाइये ! देखो यहाँ बड़े-बड़े उत्तम भोग हैं । बहुत ही सुन्दर यह कन्या है जो आपकी प्रतीक्षा में है, यह बहुत ही सुन्दर रसायन है जो बुढ़ापे और मौत को नहीं आने देगी । यह बहुत सुन्दर यान है जो आकाश में उड़ता है । यह बड़े सुन्दर कल्प वृक्ष है एवं बहुत ही पुण्य स्वरूपा मन्दाकिनी गंगा बह रही है । इधर यह सिद्ध एवं महर्षि लोग हैं । यह देखिये यह बहुत ही सुन्दर और उत्तम मनोनुकूल चलने वाली दिव्य अप्सरायें हैं । यहाँ पर तुम्हारे कान भी दिव्य होंगे जो दूर-दूर की बातें सुनेंगे और आँखें भी दिव्य होंगी जो दूर-दूर की देखेंगी और शरीर तुम्हारा वज्र जैसा रहेगा । देखो ऐसे लोग बड़े भाग्य से मिलते हैं । इसलिए यह उत्तम स्वर्ग सुख तुमने तीव्रतम तप एवं योग समाधि के द्वारा प्राप्त किया है, अब और कहीं जानेकी इच्छा करना चाहिये, आप यहीं रहो । देवता लोग उस अतिक्रान्त भावनीय योगी के बढ़ते हुए तेज को देख करके बहुत ही विनम्र प्रार्थनायें करते हैं, किन्तु योगीको उन लोगोंकी प्रार्थना

पर कोई ध्यान नहीं देना चाहिये और जब वे लोग स्वर्ग लोक के विविध लोभ दिखलायें, तब उन भोगों की ओर मन को आकर्षित नहीं होने देना चाहिए। देवताओं की इस अभ्यर्थनाओं पर यदि योगी का मन दैविक भोगों में आकर्षित होता है, तो अवश्य ही उसका पतन हो जाता है और उस योगी की अतिक्रान्त भावनीय सम्प्रज्ञात योग की उत्तमोत्तम स्थिति जाती रहती है। स्वर्ग लोक की प्राप्ति भी तभी हो सकती है, जबकि मनुष्य लोक में रहता हुआ पूर्ण जितेन्द्रिय होकर अपनी साधना अभ्यास को उत्तमता के साथ बढ़ाता चला जाय। कदाचित् योगी स्वर्गीय सुन्दर दृश्यों को देखकर उनको प्राप्त करने की इच्छा करता है। ऐसी स्थिति आ जाने पर पहले तो देवता लोग मनुष्य लोकों के भोगों में ही उसका मन आकर्षित करके उसको यहीं पर गिरा देते हैं। स्वर्गलोक-देवलोक तक पहुँचने भी नहीं देते। कदाचित पहुँच भी जाये तो लाखों करोड़ों वर्षका लम्बा समय उसका वहीं स्वर्गलोक के भोगों में ही समाप्त हो जाता है और वह उसका योग-समाधि से एक प्रकार का पतन सा ही हो जाता है।

योगाभ्यासियों को स्वर्गीय भोग एक प्रकार से दण्डरूप ही होते हैं। जो अभ्यासी योगाभ्यास करते हुए मनमें पूर्ण वैराग्य धारण करके पूर्ण जितेन्द्रियता से अपने अभ्यास को बढ़ाते हैं वह बहुत जल्दी योग-समाधि को पाकर सिद्ध हो जाया करते हैं अन्यथा उनका यत्किंचित भी मन विचलित होता है तो वह लोग स्वर्गीय बन जाते हैं। अखिल लोक-नायक, कालचक्र, युगचक्र और जगचक्र को चलाने वाले भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवत गीता में अपने शब्दों में स्पष्ट कर दिया है कि कदाचित योगी का मन योग से विचलित हो जाय तो उत्तमोत्तम स्वर्गलोक में उसकी सहज उपलब्धि करते हैं, किन्तु योगी को सावधान रहना चाहिए, क्योंकि देवताओं के इस प्रलोभन में योगी आ गया तो जन्म-मरण आदि के अनिष्टों में फिर फँस जायेगा। एक सावधानी और रखना चाहिए कि साधक के मन में यह अभिमान भी नहीं होना चाहिए कि अब तो मैं देवताओं का भी पूज्य हो गया हूँ। ऐसी धारणा कर लेने पर भी योगी के लिए अनिष्ट की सम्भावना रहती है। ऐसी स्थिति में उसको काल भय रहता है। अतः योगी को दोनों प्रकार की इन भावनाओं से बच के रहना चाहिए।

एक उदाहरण आज से लगभग ४० वर्ष पहले हमारे आश्रममें एक साधक आया था, उसका नाम रमणीगिरि था। जिस समय आश्रम में उसने योगाभ्यास की दीक्षा ली तो श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की अपार करुण-कृपा से उसको सम्प्रज्ञात योग में उत्तमोत्तम स्थिति प्राप्त हुई और ज्योंही वह अतिक्रान्त भावनीय

स्थिति को प्राप्त हुआ तो स्वर्गादि लोक-लोकान्तर दीखने लगे। परिणाम यह निकला कि स्वर्गलोक के इस प्रकार के आकर्षक दृश्यों को देख करके उनकी ओर उसका मन आकर्षित हो गया। उसकी ध्यान-स्थिति को सुन कर एवं स्वर्गीय आकर्षणों की बात को जान कर उसको आज्ञा दी कि तुम इन प्रलोभनों में मत पड़ो एवं अपने इष्टदेव का ध्यान करो। स्वर्गीय दृश्यों की तरफ आकर्षित मत होओ। इतनी गुरु आज्ञा को पाकर भी वह अपने आपको नहीं सम्भाल सका। आश्रम से बिना ही बताये चुपचाप चला गया और वृन्दावन के पास कुसुम सरोवर के आसपास के जङ्गलों में कहीं बैठ गया। उसको देवताओंने प्रलोभन दिया था कि तुम कहीं जङ्गल में रहकर दो या तीन दिन की तपश्चर्या करो, तब तुम दिव्य विमान से स्वर्गलोक में आ जाओगे। किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ, उसने बाद में हमें यह सब बातें बतलाईं। पश्चात् स्वर्गलोक की अपेक्षा वह मनुष्य लोककी किसी वासनिक स्थितिमें फंस गया, कोई विमान नहीं आया। इस प्रकार उसने अपने आपको गिरा लिया। इसलिए साधक को चाहिये कि आंखों से देखे हुए लौकिक और कानोंसे सुने हुये स्वर्गादिक विषयों से बिलकुल सावधान रहे, तभी उसका आत्मिक उत्थान हो सकता है।

अभ्यास करता हुआ योगी जब ध्यानयोग की पराकाष्ठा को पहुँचता है, जितेन्द्रियता के साथ बढ़ते हुए सम्प्रज्ञात योगकी चौथी श्रेणी अस्मितागत समाधि को प्राप्त हो जाता है। उस समाधिमें स्थित योगी अखण्ड-मण्डलाकार निर्गुण निराकार व्यापक सत्तामें अपने आपको विलीन देखता है। इस स्थितिमें उसको केवल मात्र अस्मि प्रत्यय का ही भान रहता है। विवेक ख्याति पूर्णरूप से प्रकट हो जाती है और उस विवेक ख्याति में समाधिस्थ योगी 'अस्मि-अस्मि अहमेवास्मि' ऐसी बुद्धि वृत्ति को देखता है. थोड़े समय के बाद यह बुद्धि ऋत को धारण कर लेती है। ऋतको धारण कर लेने के बाद इस ही बुद्धिवृत्ति का नाम अस्मि प्रत्यय बन जाता है। इस अस्मि प्रत्यय के उदय हो जाने के बाद ऋत का भास हो जाता है। वह जो कुछ सोचता है सत्य सोचता है, जो कुछ करता है सत्य करता है। सत्य के अतिरिक्त वहां पर कोई और विपरीत संस्कार पैदा ही नहीं होता।

**तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।**

अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा पैदा होने के बाद अन्य संस्कार खत्म हो जाते हैं। इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ पढ़िये—

**समाधि प्रज्ञाप्रभवः व्युत्थानसंस्कारा-शयं बाधते व्युत्थानसंस्काराभिभवात्त-त्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति। प्रत्यय निरोधे समाधिरुपतिष्ठते। ततः समाधिजा प्रज्ञा ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवो संस्काराशयो जायते। ततः प्रज्ञा**

ततश्च संस्कारा इति । कथमसौ संस्कारातिशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशक्षये हेतुत्वात् चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति । चित्तं हि ते स्वकार्यादवसादयन्ति । ख्यातिपर्य्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति ।

अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा के पैदा हो जाने के पश्चात् और कोई संस्कार पैदा नहीं होता। केवलमात्र ऋतम्भरा के ही संस्कार रहते हैं। जिनकी चेष्टायें वहां पर जाकर शांत हो जाया करती हैं और ज्यों-ज्यों मनुष्य इस समाधि प्रज्ञा को पाकर अस्मि प्रत्यय में अवस्थित रहता है, वह अस्मिप्रत्यय भी ख्याति पर्यवसान है। अस्मि-अस्मि यह वृत्तिनिर्वाणोन्मुखी वृत्ति कहलाती है। यहां आ करके ही साधक को परवैराग्य की प्राप्ति होती है। जिसका लक्षण भगवान पतंजलिदेव ने इस प्रकार लिखा है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।

इस पर व्यास भाष्य की पंक्तियां—

दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषः दर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति तद् द्वयं वैराग्यं तत्र यदुत्तरं तद्ज्ञानप्रसादो मात्रं यस्योदये सति योगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छेदात् जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ।

अर्थात् देखे और सुने विषयों से विरक्त साधक व्यक्ताव्यक्त धर्म वाले गुणाधिकार से परे हो जाता है तब ज्ञान के परमोदय हो जाने के बाद साधक इस प्रकार से मानता है कि जो पाना चाहिए था वह मैंने प्राप्त कर लिया है। पोरी दर पोरी जुड़ा हुआ संस्कारचक्र काट दिया है।

यह स्थिति इस प्रकार की है जिसको मोक्ष स्वरूप वाली ही कहा जा सकता है। इसमें अस्मि प्रत्यय वाली निर्माणोन्मुखी वृत्ति ही काम करती रहती है, किन्तु निरन्तर अभ्यास के बाद पूर्ण हो जाने के बाद यह वृत्ति भी उस ही प्रकार खत्म हो जाती है, जैसे अग्नि की चिन्गारी सूखे ईंधन को जला कर भस्म कर देती है और उसके बाद वह स्वयं भी समाप्त हो जाया करती है। यह अस्मि प्रत्यय साधक का पिछला प्रत्यय है। भगवान पतंजलिदेव जी लिखते हैं—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।

अर्थात् इस वृत्ति के रुक जाने के बाद अन्य किसी भी वृत्ति का उदय नहीं होता

और इसका निरन्तर अभ्यास। साधक अन्त में निर्बीज समाधि को प्राप्त हो जाया करता है। व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी प्रज्ञाकृतानामपि संस्काराणां प्रतिबन्धी भवति । कस्मान्निरोधजः संस्कारः समाधिजान् संस्कारान् बाधतीति । निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोध-चित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम् व्युत्थान निरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृतावस्थितायां प्रविलीयते । तस्मात्ते संस्काराश्चित्त-स्याधिकारविरोधिनो न स्थितिहेतवो भवन्तीति । यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्तते तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यते ।

अर्थात् इस प्रत्यय के उदय हो जाने के बाद साधक पूर्णरूपेण निर्बीज समाधि को प्राप्त हो जाता है। जिसमें पहुँचकर फिर कुछ भी करना अवशेष नहीं रहता, इसी का नाम कैवल्य भाव है। इसी के लिए योगी लोग प्रयत्नशील रहते हैं। प्रत्युदित ख्याति-रूप यह वैराग्य पर वैराग्य है। यहाँ आ करके मनुष्य की सभी वृत्तियाँ पूर्ण शान्त हो जाती हैं और मनुष्य पूर्ण निरोधको पा जाया करता है।

## —❀ स्थितप्रज्ञ के लक्षण ❀—

- स्थितप्रज्ञ जीवन के उतार चढ़ाव में एक समान रहता है।
- स्थितप्रज्ञ अशान्त वातावरण में शान्त रहता है। चित्त की एकाग्रता का आनन्द लेता है।
- स्थितप्रज्ञ दुःख के समय भी सुख का ही अनुभव करता है।
- स्थितप्रज्ञ प्रवृत्ति और दैवी शक्ति की एकता में विश्वास रखता है।
- स्थितप्रज्ञ आत्मज्ञान और विज्ञान के समन्वय से दोनोंका लाभ उठाना चाहता है।
- स्थितप्रज्ञ सत्य-ज्ञान और सत्य-कर्म का मेल बिठाना जानता है।
- स्थितप्रज्ञ आत्म तत्त्व और परमात्म-तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को जानता है।
- स्थितप्रज्ञ अर्थात् चेतन शक्ति का असीम भण्डार। जो अपने आपको पहचानता है, वह योगी अर्थात् स्थितप्रज्ञ है।
- स्थितप्रज्ञ आदर्श-जीवन अवस्था है। प्रज्ञा स्थिर करने का साधन है। जितेन्द्रियता अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह।

# योगमार्ग से अशान्ति का अन्त

❀ डा० श्री जगदीशशरण द्विवेदी

आज का मानव शान्ति की खोज में दर-दर भटकता फिर रहा है। फिर भी उसे वह मार्ग नहीं मिल पा रहा है। संसार के महान धनी देश जैसे अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस जापान आदि जो सम्पन्नता तथा वैज्ञानिक टेक्नोलोजी की सर्वोच्च सीढ़ी पर पहुँच चुके हैं, विज्ञान ने उन को चन्द्रमा, मंगल, शुक्र ग्रहों तक पहुंचा दिया है। फिर भी उनके मन में शान्ति नहीं। वे न मालूम स्वार्थवश महा-क्षया करने के स्वप्न देखते हैं तथा सारी मानवता को एक खतरा बने हैं। वे न तो स्वयं शान्ति का मार्ग खोज पा रहे हैं और न दूसरे को शान्ति पूर्वक रहने देना चाहते हैं।

कुछ सम्पन्न जिज्ञासु विदेशी भारतमें आकर यहां के प्राचीन गौरव को सुनकर यहां के योगाश्रमों के चक्कर लगा रहे हैं। विदेशियों की जिज्ञासा की प्रशंसा करनी ही पड़ती है कि वे वैभव को छोड़कर भारत की इस तपो भूमि पर साधारण जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यहां पर उन को परम चिरंतन आनन्द का दर्शन हो रहा है। इसका कारण है, इस देव भूमि प्रभाव। युग युगान्तर से हमारा देश भारत ऋषि मुनियों का देश कहा जाता रहा है। इसी कारण विश्व ने इसे शान्ति का दूत स्वीकार किया है।

प्रश्न उठता है कि शान्ति क्या है? शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति ही शान्ति है? या वैभव विलास मय जीवन ही शान्ति की कोटि में आता है? या शान्ति जैसी वस्तु अपार धन बल से खरीदी जा सकती है? क्या परिवार की जिम्मेवारियों से दूर रहकर शान्ति प्राप्त की जा सकती है? इन अनेक प्रश्नों के उत्तर केवल विवेक के द्वारा और गुरु कृपा से श्रद्धा के जागरण से मिल सकते हैं। जबतक गुरुकृपा सुलभ नहीं होगी तबतक आप को ज्ञान वैराग्य तथा विवेक का अज्ञात रूप, साकार नहीं होता है।

शान्ति तो एक अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति है। इस के पूर्व अनेक सोपान हैं जिन को पार करने के लिए, योग में बताये गये मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक होगा।

अशान्ति का सब से बड़ा कारण हमारे ऋषियों, आचार्यों, तथा परम आदरणीय गुरुओं ने मन की चंचलता को बतलाया है। वायु से भी तीव्र गति वाला मन, अपनी उड़ान में लोगों की एकाग्रता को रहने नहीं

देता। संसार के रंग बिरंगे चित्र नेत्रों को प्रलोभन में डालते हैं। रसीली, मधुर, स्वादिष्ट रस, की रसीली, रसना, उस को भटका देती है। भ्रमर की भाँति वह गुंजार करता हुआ एक कली से दूसरी कली का रस चखना चाहता है तब शान्ति कहां? जब तक कामनाओं का अन्त न होगा तब तक शान्ति के द्वार को पाना कठिन है।

लेकिन उस का अर्थ यह नहीं कि साधारण जन इस विचार को त्याग दे, कि उसे शान्ति प्राप्त हो ही नहीं सकती है न यह अवश्य है कि कुछ असाधारण प्रयत्न करना पड़ेगे। हमारी भारतीय संस्कृति अनेक उदाहरणों से भरी पड़ी है कि प्रयत्न से कठिन से कठिन कार्य भी सरल दिखाई देने लगते है। हमारा अध्यात्मवाद, दर्शन शास्त्र, इसके प्रमाण हैं कि मानव सच्चे अर्थ में जब मानव बनना चाहता है तब उस की जिज्ञासा त्याग और निष्ठा उसे मार्ग प्रदर्शित करती है।

योग का मार्ग कुछ लम्बा और अनोखा है। वह उस औषध की भाँति है जो कड़वी तो नहीं है पर इसका पथ्य कड़ा है। यदि हमारा हृदय शुद्ध हो चुका है, तथा पुण्य प्रारब्धवशात् शान्ति प्राप्त की तीव्र लगन हृदय में अपना पूर्णाधिकार प्राप्त कर चुकी है तो कड़ा पथ्य भी सरल हो जाया करता है। महाराजा भर्तृहरि के समान, राजके वैभव से परिपूर्ण जीवन को त्याग कर उस परम योग का स्थित में पहुँचने का कारण, एक असाधारण घटना ही थी जिसने विलासी राजा भर्तृहरी को योगी बना कर शान्ति के द्वार पर खड़ा कर दिया। जहाँ इच्छा बलवती होती है। वहां अन्धकार में भी मार्ग दिखाई देने लगते हैं।

प्रथम शुद्ध निष्काम, सरलता, और निष्ठा पूर्वक अपने गुरुदेव के बतलाये मार्ग पर चल कर, अपवित्र भावनाओं को हृदय से निकाल कर, अन्तःकरण को शुद्ध पवित्र बनाओ। इस विश्व के वास्तविक रूप के जानने के लिए सच्चे सन्त महात्माओं का सत्संग करना चाहिये।

क्योंकि तीव्र लगन का नाम ही वैराग्य है और वैराग्य भी बिना विवेक के नहीं होता है।

" प्रथम विवेक विराग पुनि "

वैराग्य के लिए किस वस्तु को छोड़ना है। किस वस्तु को प्राप्त करना है, उन दोनों वस्तुओं का विवेचना पूर्वक ज्ञान प्रथम आवश्यक है। और वैराग्य के लिए विवेक का होना आवश्यक है। गोस्वामी जी ने स्वयं लिखा है।

" बिन सत्संग विवेक न होई "

यह विवेक बिना सत्संग के नहीं होता है इसीलिए हमारे परमपूज्य गुरुदेव सत्संग पर

# पवित्र यज्ञ

## निस्स्वार्थ कर्म-प्रवृत्ति

श्री यशवीरसिंह

कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात् पाण्डवों ने एक भारी यज्ञ किया। इसमें निर्धनों को बहुत सा दान दिया गया। सभी लोगों ने उस यज्ञ की महत्ता एवं ऐश्वर्य पर आश्चर्य व्यक्त किया और कहा कि ऐसा महान पवित्र यज्ञ संसार में इससे पहले कभी नहीं हुआ था। यज्ञ के बाद उस स्थान पर एक छोटा सा नेवला आया। नेवले का आधा शरीर सुनहला था और शेष आधा भूरा। वह नेवला उस यज्ञ भूमि की मिट्टी पर लोटने लगा। थोड़ी देर बाद उसने दर्शकों से कहा "तुम सब झूठे हो। यह कोई यज्ञ नहीं था।" लोगों ने कहा, "क्यों! तुम कहते क्या हो ?—यह कोई यज्ञ ही नहीं था? तुम जानते हो इस यज्ञ में कितना धन खर्च हुआ है, गरीबों को कितने हीरे जवाहरात बांटे गए हैं जिससे वे सब के सब धनी और खुशहाल हो गये हैं। यह तो इतना बड़ा यज्ञ था कि ऐसा शायद ही कभी किसी महाराजा ने किया हो।" परन्तु नेवले ने कहा, "सुनो, एक छोटे से गांव में एक निर्धन व्यक्ति रहता था, साथ

(पिछले पृष्ठ का शेष)

अधिक जोर देते है। और सत्संग भी बिना गुरुदेव की कृपा के प्राप्त नहीं होता है। गुरुदेव की जब कृपा होती है तब स्वतः मन पवित्र होजाता है। ज्ञान का दीपक प्रकाशित होता है। हमारे सारे दुष्कर्म समाप्त होने लगते है। नियम संयम स्वतः अपने आप होने लगते है। स्वतः सत्संग मिलने लगता है। जिसमें "ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या" का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जिस से संसार की अनित्यता, जड़ता एवं दुख रूपका रहस्य खुलजाता है। सत् चित आनन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करने की ओर भी तीव्र लगन हो जाती है।

आत्मज्ञान, आत्म साक्षात्कार ही शान्ति आनन्द, की कोटि को पहुँचाता है। जिसप्रकार नदी अपने असली स्वरूप समुद्र को जब तक नहीं पा लेती है तब तक अशान्त रहती। जैसे—

"सरिता जल जल निधि में जाई।
होई अचल जिमि जिव हरि पाई॥"

इस लिए जब तक यह जीव उस समुद्र सच्चिदानन्द स्वरूप को नहीं प्राप्त करेगा तब तक उस की अशान्ति दूर नहीं हो सकती है। अतः अपने वास्तविक रूप को आत्मा को जानने के लिए, योग विद्या के दाता, प्रभु श्री रामलाल जी गुरुदेव का गुरु मंत्र तीव्र लगन और निष्ठा पूर्वक जाप करने से आत्म साक्षात्कार होगा—और अशान्ति के चक्र से मुक्ति प्राप्त होगी और यही इस मानव जीवन का सच्चा पुरुषार्थ होगा।

थी उसकी स्त्री, पुत्र और पुत्रवधू। वे लोग बड़े गरीब थे। एकबार उस गाँव में तीन साल तक अकाल पड़ा, जिससे उस बेचारे परिवार के दुःख-कष्ट की पराकाष्ठा हो गई। एकबार तो, सारे कुटुम्ब को पाँच दिन तक लगातार उपवास करना पड़ा। छठवें दिन वह व्यक्ति भाग्यवश कहीं से थोड़ा सा जौ का आटा ले आया। उस आटे के चार भाग परिवार के चारों सदस्यों के लिए किये गए। उन्होंने उसकी रोटियाँ बनाईं और ज्यों ही वे खाने बैठे कि किसी ने दरवाजा खट-खटाया। पिता ने उठकर दरवाजा खोला, तो देखा कि बाहर एक अतिथि खड़ा है। उस व्यक्ति ने कहा 'महाराज, पधारिये, आपका स्वागत है।' अतिथि को सादर आसन पर बैठाकर उसने अपने भाग का भोजन उसके सामने रख दिया अतिथि उसे जल्दी ही खा गया और बोला, 'अरे आपने तो मुझे और भी मार डाला। मैं दस दिन का भूखा हूँ और रोटी के इस छोटे टुकड़े ने तो मेरी भूख और भी बढ़ा दी' तब स्त्री ने अपने पति से कहा, 'आप मेरा भी भाग दे दीजिये।' पति ने कहा, 'नहीं, ऐसा नहीं होगा।' परन्तु स्त्री अपनी बात पर अड़ी रही और कहा, यह बेचारा भूखा है, हमारे यहाँ आया है। गृहस्थ की हैसियत से हमारा यह धर्म है कि हम उसे भोजन करावें। यह देखकर कि आप उसे अधिक नहीं दे सकते, पत्नी के नाते मेरा यह कर्तव्य है कि मैं उसे अपना भाग भी दे दूँ।' ऐसा कहकर उसने भी अपना भाग अतिथि को दे दिया। अतिथि ने वह भी खा लिया और कहा, 'मैं तो भूख से अभी भी जल रहा हूँ।' तब लड़के ने कहा, 'आप मेरा भाग भी ले लीजिए, क्योंकि पुत्र का यह धर्म है कि वह पिता के कर्तव्यों को पूरा करने में उन्हें सहायता दे।' अतिथि ने वह भी खा लिया परन्तु उसकी तृप्ति नहीं हुई। यह देखकर बहू ने भी अपना भाग उसे दे दिया। अब वह पर्याप्त हो गया और अतिथि ने उनको आशीर्वाद दे विदा ली। उसी रात वे चारों बेचारे भूख से पीड़ित हो मर गये। उस आटे के कुछ कण जमीन पर इधर उधर बिखर गये थे और जब मैंने उन पर लोट लगायी तो मेरा आधा शरीर सुनहरा हो गया, जैसा कि तुम अभी देख ही रहे हो। उस समय से मैं संसार भर में भ्रमण कर रहा हूँ और चाहता हूँ कि किसी दूसरी जगह भी मुझे ऐसा ही यज्ञ देखने को मिले, परन्तु ऐसा कहीं मुझे कहीं देखने को नहीं मिला। मेरा शेष आधा शरीर किसी दूसरी जगह सुनहरा न हो सका। इसीलिए मैं कहता हूँ कि यह कोई यज्ञ ही नहीं।"

इस घटना से हमें कर्मयोग का अर्थ समझ में आ जाता है। स्व अथवा 'निजत्व' का त्याग करते हुए नारथार्थपरता एवं सत्कर्म

एवं सत्कर्म द्वारा मौत के मुंह में भी जाकर बिना तर्क वितर्क किए सब की सहायता करना। भले ही तुम लाखों बार ठगे जाओ पर मुख से एक आह तक न निकालो, और तुम जो कुछ भले कार्य कर रहे हो, उनके सम्बन्ध में सोचो तक नहीं। निर्धन के प्रति किए गये उपकार पर गर्व मत करो और न उससे कृतज्ञता की ही आशा रखो, बल्कि उल्टे तुम ही उसके कृतज्ञ होओ, यह सोचकर कि उसने तुम्हें सेवा करने का अवसर दिया है। यही यथार्थ कर्मयोग जीवन है। संसार में अनासक्त होकर निरन्तर काम करते रहना है और सांख्य दर्शन के महावाक्य को कभी नहीं भूलना है कि—समस्त प्रकृति आत्मा के लिए है, आत्मा प्रकृति के लिए नहीं। संसार के भीतर रहकर इसी कौशल से कर्म करते हुए उससे बाहर निकल आना सम्भव है। कर्म करने के लिए मुक्ति के प्रति जन्म सिद्ध अनुराग को छोड़कर हमारा अन्य कोई उद्देश्य न हो। सब प्रकार के सांसारिक प्रलोभनों से अतीत हो जाओ। हमें केवल कर्म करने का अधिकार है, कर्मफल में कोई अधिकार नहीं—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते
मा फलेषु कदाचन।'

भगवान बुद्ध कहते थे "मैं ईश्वर के बारे तुम्हारे मत-मतान्तरों को जानने की परवाह नहीं करता। आत्मा के बारे में विभिन्न सूक्ष्म स्तरों पर बहस करने से क्या लाभ? भला करो और भले बनो। बस यही तुम्हें निर्वाण की ओर अथवा जो भी कुछ सत्य हो, उसकी ओर ले जायेगा।" सर्वश्रेष्ठ दर्शन का प्रचार करते हुए भी इस महान दार्शनिक के हृदय में क्षुद्रतम प्राणी के प्रति भी गहरी सहानुभूति थी, और फिर भी उन्होंने अपने लिए किसी प्रकार का दावा नहीं किया, पूर्णरूपेण हेतु शून्य होकर निरन्तर कर्म किया।

## ❀ शरीर-देवमन्दिर ❀

यह शरीर हमारे आत्मा का निवास स्थान तथा प्रभु का पावन मन्दिर है, जिसमें प्रभु की दिव्य ज्योति जगमगा रही है। वेदने इसे "देवानां पुरः" अर्थात् देवताओं की पुरी कहकर पुकारा है। इस शरीर में सभी देव शक्तियां मौजूद हैं, जिनका विकास हम शरीर के स्वस्थ, बलवान् और नीरोग बनाने पर ही कर सकते हैं। अतः इसे रोगों और निर्बलताओं से बचाकर इसको साफ सुथरा नीरोग और बलवान रखना हमारा परम कर्तव्य है। कमजोर और अपवित्र मन्दिर में बलवान तथा पवित्र देवता निवास नहीं करते। अतः हमारा आत्मा भी तभी बलवान बनेगा जब कि हम अपने शरीर को बलवान और पवित्र बनायें।

# शब्द ब्रह्माति वर्तते

श्री कपिलदेव उपाध्याय बी-एस. सी

भगवान श्री कृष्ण ने अपने मुखारविन्द से कहा है कि योग का जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मों के फल को उल्लंघन कर जाता है।

यह एक बड़े ही आश्चर्य की बात है, क्योंकि वेदमें कहे हुए सकाम कर्मों का अनुष्ठान अगर किया जाय तो कई जन्मों में जाकर पूरे होंगे। इतने सारे कर्मों का फल सिर्फ मन के अन्दर योग जिज्ञासा जागने से ही बहुत पीछे रह जाता है, यह एक अनहोनी सी बात लगती है, पर है सत्य। आज के युग को जड़-विज्ञान का युग कहा जाता है, और जबतक किसी बात पर इस जड़ विज्ञान की "मुहर" नहीं लग जाती है, आजकल का उच्चशिक्षित वर्ग इसे स्वीकार नहीं करना चाहता। प्रभुजी के चरण कमलों के रज-प्रसाद से, जिसके बारे में यह कहना कि "मूक होय वाचाल, पंगु चढ़हि गिरिवर गहन" की कृपा से मैं जड़ विज्ञान की दृष्टि से गीता के कुछ श्लोकों का वर्णन करने की धृष्टता कर रहा हूं।

अलबर्ट आइनस्टाइन नामक एक बहुत ही बड़े वैज्ञानिक हो चुके है। जिन्होंने विज्ञान जगत में बहुत ही सुयश प्राप्त किया है। उन्होंने किसी वस्तु के मात्रा के साथ उस वस्तु के द्वारा उत्पन्न शक्ति का एक सम्बन्ध खोज निकाला था, उसके आधार पर ही उपर्युक्त कथन की पुष्टि की जायेगी।

अगर किसी वस्तु की मात्रा $m$ द्वारा लिखी जाय तथा शक्ति को $E$ के द्वारा तो उनमें निम्न सम्बन्ध होता है $E = m \times c^2$ जहाँ पर $c$ = प्रकाश की गति है जिसका मान 186000 मील प्रति सेकेण्ड है। इसको सेन्टीमीटर में बदलने से $186000 \times 1760 \times 91 = 29789760000$ सन्टीमीटर आता है अगर $m = 1$ ग्राम हो तो $E$ का मान $= 29789760000 \times 29789760000 \times 1$ अर्ग के समान होगा जिसे गुणा करने पर $= 88738933042 \times 60000{,}0000$ अर्ग होगा।

मानलिया कि 1 ग्राम कोयले के टुकड़े को लेकर उसे परमाणविक विस्फोरण के द्वारा शक्ति में रूपान्तरित किया गया तो हमें उपर्युक्त शक्ति प्राप्त हुई।

अब शक्ति और गर्मी के बीच भी एक सम्बन्ध होता है जिसे जूल नामके एक वैज्ञानिक ने निकाला था।

हम यह अच्छी प्रकार से जानते है कि अगर एकग्राम कोयले को स्थूल रूप में जलाया जाय तो उससे हमें १९.२ कलोरी गर्मी प्राप्त होगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म रूप में कोई वस्तु अपने स्थूल रूपसे अधिक शक्तिशाली हो जाती है। होमिओपैथी की दवाओं में हम देखते है कि जितनी ही दवाओं की मात्रा सूक्ष्म होती है दवा की शक्ति उतनी ही अधिक होती है इसके आविष्कारक हैनिमन साहब या कोई और साहब भले ही हो पर गीता अध्याय तीन के ४२ वे श्लोक पर ध्यान देने पर इस रहस्य का पता चलता है।

इंद्रियाणि पराण्या-
हुरिन्द्रियेभ्यः परंमनः।
मनसस्तुपरा बुद्धियों
बुद्धे परतस्तु सः॥

शरीर से सूक्ष्म इन्द्रियां होती है. इन्द्रियों से सूक्ष्म मन होता है, मन से सूक्ष्म बुद्धि होती है और जो बुद्धि से भी सूक्ष्म है वह आत्मा है। ये सूक्ष्म होने के साथ ही साथ उत्तरोत्तर बली भी है। और इन शक्ति शालियों के द्वारा दुर्बलों को आसानी से दबाया जा सकता है।

शरीर को स्थूल मानकर सूक्ष्म शरीर में किये कर्म का परिणाम भी वही होना चाहिये जो सूक्ष्म रूप में कोयले का परिमाणविक विस्फोटन करने से होता है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि अगर किसी कर्म के भोग को हम सूक्ष्म शरीर में एक सेकेण्ड भोग सकें तो वह स्थूल शरीर के बहुत अधिक स .य तक के बराबर होगा। अगर हमारे स्थूल शरीर का भोग उतने दिनों का है तथा स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में रहने की कला हमें आ गई है तो हम उसे एक सेकेण्ड में भोग सकते है।

इसलिए भगवान ने विशेष जोर देकर ही यह बात कही है कि योग जिज्ञासा के फल-स्वरूप अगर हम एक सेकेण्ड भी अपने सूक्ष्म शरीर में आ सके तो हमारे करीब करीब ८४ लाख वर्षो के स्थूल शरीर के भोग समाप्त हो सकते है। हम सभी को यह मालूम है कि ८४ लाख योनियां होती है उनकी आयु का विश्लेषण करने से यह पता चलता है कि इतने ही वर्ष मनुष्य जन्म छूट जाने के बाद भटकना पड़ता है।

विज्ञान को, अभी तक कपिल मुनि और कणाद मुनि ने जो दिया है उससे आगे अभी नहीं बढ़ पाया है। सब से पहले परमाणु की परिभाषा इन दोनों महात्माओं ने ही विश्व को दी। विज्ञान के विद्यार्थी इसे अच्छी तरह जानते है। लेकिन परमाणु के परमाणुओं के बनावट के बारे में अभी विज्ञान को पता नहीं है जबकि हमारी गीता हमें परमाणुओं के कितने स्तर तक ले जाती है देखिये :—

शरीर स्थूल है और उसका परमाणु इन्द्रिय है।

इन्द्रिय स्थूल है और उसका परमाणु (सूक्ष्म) मन है।

मन स्थूल है और उसका परमाणु बुद्धि है।

बुद्धि स्थूल है और उसका परमाणु आत्मा है।

आत्मा स्थूल है और उसका परमाणु परमात्मा है।

अर्थात् स्थूल शरीर का ८४ लाख का भारगुना जो योग होगा उतने वर्ष आत्मा के की सेकेण्ड के बराबर होता है।

योग हमें सिखाता है कि स्थूल शरीर से सूक्ष्म लिंग शरीर। लिंग शरीर से सूक्ष्म-सूक्ष्म शरीर। सूक्ष्म शरीर से सूक्ष्म कारण शरीर तथा कारण शरीर से सूक्ष्म महाकारण शरीर। इन्हें को हम परस्पर एक दूसरे के परमाणु कह सकते हैं।

शरीर के कोषों की रचना भी इसी प्रकार है सब से पहले अन्नमय कोष उसके बाद प्राणमय कोष उसके बाद ज्ञानमय कोष उसके बाद विज्ञानमय कोष उसके बाद आनन्दमय कोष। ये भी हमारे परमाणुविक रचना को व्यक्त करते हैं।

तुलसीदास ने रामायण में लिखा है कि—

जनमत मरत दुसह दुख होई।

भगवान श्री कृष्ण ने गीता में कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति
प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य
त्रायते महतो भयात्॥

इस महतो भयात् से जन्ममरण का दुःख ही समझना चाहिये, और इस धर्म अर्थात् योग का थोड़ा सा अभ्यास (जिज्ञासा) करने से भी मनुष्य इस महतो भयात् से रक्षा पा जाता है। महतो भयात् से बचने का रास्ता एक ही है कि जन्ममरण के चक्कर से छूटा जाय। जन्ममरण के चक्कर से मनुष्य तभी छूट सकता है जब कि—

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्।
स तं परं पुरुष मुपैति दिव्यम्॥

जब मरते समय भौंहों मध्य में प्राण को प्रविष्ट करने की कला आ जाय, जो योग साधन के बिना असम्भव है। इसी लिये गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है—

जनम-जनम मुनि जतन कराहीं।
अन्त राम कहि आवत नाहीं॥

क्योंकि जबतक प्राणों का प्रसार सारे शरीर में है तब तक तो शरीर के दुःख और सुख की अनुभूति हमें होगी। परन्तु जब सारे शरीर से प्राणों को खींच कर गुरु चरणों (आज्ञाचक्र) में एकत्रित कर लोगे तो शरीर में

# सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

❀ योगोपदेश

❀ श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी

**आत्म-रूप—**

विद्युत या प्रकाश की तरह आत्मा से ऐसी रश्मियाँ निकलती रहती हैं, जिनके मंडल में जो भी पदार्थ आता है, वह स्वयं आत्मा-रूप दीखने लगता है।

**प्राण-शक्ति—**

जब देह, मन और बुद्धि पर आत्मा तत्व की अध्यात्म किरणें पड़ती हैं, तो वे चेतन से युक्त हो जाते हैं और उनके भीतर विद्युत के समान शक्ति के स्रोत प्रवाहित होने लगते हैं। इसी शक्ति को 'प्राण-शक्ति' कहते हैं और प्राणवान ही प्राणी कहलाता है।

---

(पिछले पृष्ठ का शेष)

कष्ट नहीं होगा उस समय आनन्द के क्षण में ही रामशब्द उच्चारण होगा अन्य समय में नहीं।

इसलिए गीता का उपर्युक्त कथन सम्पूर्ण-रूप से सत्य है अन्त में आइन स्टाइन के शब्दों में "विज्ञान अपनी चरम उन्नति करके पहाड़ के जिस शिखर पर पहुँचेगा वहां वह देखेगा कि पहले से ही कोई हिन्दू संन्यासी वहां बैठा हुआ है।"

**इच्छा-शक्ति—**

भौतिक शरीर इस प्राण-शक्ति का प्रयोग इन्द्रियों द्वारा किया करता है। इन्द्रियाँ मन की सत्ता के अधीन हैं और बुद्धि इन दोनों पर संयम रखती है। इस प्रकार प्राण-शक्ति की अभिव्यक्ति भौतिक, मानसिक और बौद्धिक,—तीनों स्तरों पर होती है जिसे हम देहाभिमान मानसिक अभिमान और अहंकार के रूप में अनुभव करते हैं। इच्छा-शक्ति इसी अहंकार की सत्ता से कार्य करती है।

**शक्ति का विकास—**

'इच्छा-शक्ति' शक्ति का उद्गम स्थान है। इच्छा के द्वारा आत्मा से अध्यात्म शक्ति को प्राप्त किया जाता है और इच्छा के ही द्वारा उससे निम्न स्तर पर मन की शक्ति का विकास होता है। इच्छा-शक्ति वह शिखर है जो दोनों स्तरों के स्रोत को मन के द्वारा संयम (नियन्त्रण) में रखती है।

**शक्ति के रूप—**

शक्ति तीन रूप में कार्य करती है—इच्छा शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति,—सोचना समझना और करना। तीनों शक्तियों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, फिर भी इच्छा-

शक्ति ही क्रिया के रूप में प्रगट हुआ करती है।

शक्ति-प्रयोग का आधार—

यद्यपि इच्छा-शक्ति का मन द्वारा, ज्ञान-शक्ति का ज्ञानेन्द्रियों द्वारा और क्रिया-शक्ति का कर्मेन्द्रियों द्वारा प्रयोग होता है, फिर भी तीनों का आधार मन ही है।

संस्कारों का निर्माण—

जन्म मरण के चक्र में भौतिक शरीर तो बदलते रहते हैं, पर इन्द्रियाँ, मन बुद्धि, चित्त और अहंकार वाला सूक्ष्म शरीर अनन्त काल तक अनेक शरीरों में आवागमन करके संस्कारों का निर्माण करता है।

संस्कारों का विकास—

सूक्ष्म शरीर का अनेक भौतिक शरीरों के सहयोग से जो विकास होता है, उसके संस्कार बीज रूप से चित्त पर बने रहते हैं और समय पाकर वे अंकुरित होते हैं,—उनका विकास होता है।

अध्यात्म-प्रकाश—

सतत् अभ्यास से जिससे मन और बुद्धि जितने अधिक उन्नत होंगे, उतना ही अधिक उसमें अध्यात्म प्रकाश चमकेगा और उसी प्रमाण में उसका मनोबल भी बढ़ेगा।

चित्त के दो पट—

मनः शक्ति और अध्यात्म शक्ति चित्त के दो बाह्य और अन्तर्पट हैं, उसको एक ऐसे दर्पण से तुलना की जाती है कि जिसके एक तरफ हम अपना मुँह देखते हैं और दूसरी तरफ चित्रकारी यानी संसार का दृश्य देखते हैं।

इच्छा शक्ति का रहस्य—

इच्छा-शक्ति में बड़ा बल है, परन्तु उस का प्रयोग करना हर एक व्यक्ति नहीं जानता जो इस रहस्य को जानते हैं, वे कदापि किसी संकट में घबराते नहीं।

शक्ति की उपासना—

अशक्त से कुछ नहीं हो सकता। देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट,—सभी शक्ति के सहारे जीते हैं। अतएव सब को शक्ति की उपासना करनी चाहिए।

इच्छाओं का संगम—

अनेक इच्छाओं में शक्ति नष्ट करने से एक भी इच्छा पूरी नहीं होती। किसी एक ही इच्छा पर पूरी शक्ति लगाइये तो वह इच्छा अवश्य पूरी होगी। इच्छा-शक्ति के संयम से मनुष्य की कार्य क्षमता बढ़ती है। इच्छा-शक्ति ही सब शक्तियों के विकास की कुंजी है। आत्मबल और मनोबल दोनों का विकास इच्छा-शक्ति के अधीन है।

अक्षय भण्डार—

आत्मा अध्यात्म शक्ति का अक्षय भण्डार है। जब चित्त में शक्ति का संचय होने लगता है और चिन्ताओं में उसका अपव्यय नहीं किया जाता, तो वह शक्ति मनुष्य के अंग-

प्रयोग में चमकने लगती है।

**शक्ति की वृद्धि—**

आत्म-स्थिति बढ़ने से शरीर में अध्यात्म शक्ति की वृद्धि होती है। लेकिन जब विषयों के चिन्तन से मन हटेगा, तभी वह अन्तर्मुखी बन सकेगा और तभी उसका बाह्य जगत से सम्बन्ध कटकर आत्मा से जुड़ेगा।

**शक्ति का स्रोत—**

संकल्पों से उदय होने वाली कामनाओं को त्यागकर, मन से इन्द्रियों को समेटो और फिर आत्मा में स्थित होकर कुछ भी मत सोचो, तो शून्य से अनन्त शक्ति का स्रोत प्रगट होगा। इस अध्यात्म शक्ति की उपलब्धि ही तप है जो मनोनिग्रह द्वारा सुलभ साध्य है।

**मनः शक्ति का ह्रास—**

वृथा के संकल्प-विकल्प, चिन्ताएँ, दुर्व्यसन, विषय-लोलुपता, शोक, वियोग, भय, परेशानी आदि से मनः शक्ति का ह्रास होता है। किसी एक विषय पर मन को स्थिर रखने के अभ्यास से पुनः मन में शक्ति का संचय किया जा सकता है।

**निर्बल मन—**

निर्बल मन वाले लोग भय, अविश्वास, शंका, आलस्य और प्रमाद के कारण कोई कार्य नहीं कर पाते। उनकी इच्छा शक्ति मर जाती है। मन का व्यायाम भी होना चाहिये और स्वस्थ भी। यदि मन रोगी है तो तन स्वस्थ नहीं रह सकता। ऐसा व्यक्ति जीवन से निराश होकर आत्म-हत्या तक कर बैठता है।

**ज्ञानी भी मन के कच्चे—**

बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष भी मन के बड़े कच्चे देखे जाते हैं। वे दुःखों के आघात को किंचिन्मात्र भी सहन नहीं कर सकते। ज्ञान के साथ यदि साहस, धैर्य, उत्साह, निर्भयता, स्थिरप्रज्ञा आदि गुण नहीं है तो मनोबल कहां से आयेगा?

**बहुत सूक्ष्म शक्ति—**

मनुष्य चाहे कितना ही बलवान क्यों न हो, जब तक मन की प्रवृत्तियां बहिर्मुखी रहेंगी, तब तक उसमें अध्यात्म शक्ति का विकास संभव नहीं होगा। अध्यात्म शक्ति बहुत ऊँची, लेकिन सूक्ष्म शक्ति है उसके तेज के सामने मन का साहस भी हार मानता है।

**एकाग्र चित्त—**

चित्त को तुच्छ रख कर परमात्मा को नहीं जाना जा सकता। मलिन चित्त पर आत्मा का प्रकाश नहीं चमकता। ज्यों-ज्यों अन्तःकरण की शुद्धि होगी, चित्त एकाग्र होने लगेगा और उसी गति से आत्मा रूपी सूर्य का वह प्रकाश जो कभी अस्त नहीं होता, स्वयं चमकने लगेगा एवं अध्यात्म शक्ति से तन-मन को भर। तभी शक्ति की अभिव्यक्ति हो सकेगी। ❀❀

# इन्द्रिय संयम

श्री कृष्णकुमार पाण्डेय

योगाचार्य भगवान पतञ्जलि-देव ने अपने एक सूत्र में कहा है कि—

"ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्"

अर्थात् प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने पर योगी की इन्द्रियां उसके वश में हो जाती है। ऐसी अवस्था में उनकी स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो जाती है। प्रत्याहार के पूर्ण सिद्ध हो जाने के बाद इन्द्रिय निग्रह के लिए अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती है।

वास्तव में हमारी इन्द्रियां ही हमारे सुख एवं दुःख का कारण होती हैं। यही विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं को जन्म देकर मनुष्य को सत्य पथ से विचलित करती हैं। इन्द्रिय द्वारा किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम मन उस विषय वस्तु में संलग्न होता है। बुद्धि द्वारा उस विषय-वस्तु की जानकारी हो जाने पर मन का उसके प्रति राग या द्वेष पैदा होता है। यदि राग (प्रेम) हुआ तो वह व्यक्ति उसे प्राप्त हो जाने पर उसका बार-बार सेवन करता है। अब उस राग के भोगने में किसी व्यक्ति के बाधक होने से उससे द्वेष पैदा हो जाता है। द्वेष बढ़ने पर लोभ एवं मोह बढ़ता है। लोभ एवं मोह के बढ़ जाने पर उसका मन धर्म से विमुख हो जाता है। यदि वह लोक-लाज के भय से कदाचित धर्म भी कर देता है, तो उसका यह धर्म आडम्बर मात्र होता है। वह उस धर्म को दूसरे अनैतिक कर्म द्वारा ब्याज समेत वसूल करता है इस धर्म के ब्याज से उसे अर्थ की प्राप्ति होती है तो वह अर्थ सिद्धि में लग जाता है। चूंकि उसका अर्थ शुद्ध तो रहता नहीं, क्योंकि उसे यश प्राप्त हो गया होता है। फिर उस यश की आड़ में से वह प्राप्त अर्थ द्वारा पाप करता है। ऐसे अवसर पर उसके सुहृद उसे रोकते हैं तो वह असंगत बात करके उन पर क्रोध करता है। वह व्यर्थ ही अपने कर्मको ही श्रेष्ठ बतलाता है। ऐसे काल में उसका चित्त पूर्ण रूप अधर्म में लग जाता है। वह मन से पाप करता, वाणी से पाप-युक्त बात बोलता, तथा क्रिया द्वारा भी पाप का आचरण करने लगता है। कहने का तात्पर्य कि उसकी इन्द्रियां ही उसे नियन्त्रित करने लगती हैं। जिस मनुष्य की इन्द्रियां उस पर नियन्त्रण करना शुरू कर देती है, तो वह अपने को घोर पतन की ओर ले जाता है। चूंकि उसका मन वहीं लग गया है। इससे उसी पाप में उसका राग हो जाता है। ऐसे काल में वह सर्वत्र अपनी ही सत्ता समझने लगता है। गीता का निम्न श्लोक उस पर पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है—

ईश्वरोऽहमहं भोगी,
सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि
को अन्योऽस्ति सदृशो मया॥

इसके अतिरिक्त जो पुरुष इन्द्रिय निग्रह करता है, वह अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से श्रेय एवं प्रेय को समझकर श्रेय का अवलम्बन ग्रहण करता है। वह साधु महात्माओं की सेवा एवं सत्संग करता है। साधु संग के प्रभाव से उस की मति धर्म में प्रवृत्त हो जाती है सन्तों के वार्ता-कलाप से तथा उनके उपदेश से उसके चित्त में आह्लाद होता है। व्यक्ति की अपनी इन्द्रियाँ अपने यथार्थ कर्म में प्रवृत्त होती है। अर्थात् कानों से दिव्य मन्त्र का श्रवण करता, है आँखें अन्तर्मुखी होकर अन्दर के नजारे देखा करती है, मुख सदैव नाम जप में लगा रहता है, हाथ से दान की वृत्ति रखता है नाक से दिव्य गन्ध का आनन्द लेता है। इस प्रकार उसकी अनुष्ठानिक प्रवृत्ति सर्वदा के लिए बन जाया करता है। इन्द्रियाँ अपने यथार्थ कर्म को कर रही होती है। इसलिए धीरे-धीरे वह आत्म-दृष्टि को प्राप्त कर उत्तरोत्तर साधना को बढ़ाता चला जाता है। ऐसे काल में वह अपने को सम्पूर्ण लोकों में तथा सम्पूर्ण लोकों को अपने में देखता है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष जब तक उसके प्रारब्ध शेष होते है तबतक ही वह सम्पूर्ण भूतों को देखता है ऐसी अवस्था में यदि वह गुरुमुखी है तो सब अवस्थाओं में समस्त भूतों को आत्म रूप से देखने वाले उस महाभूत ज्ञानी का कभी भी अशुभ कर्मों से संयोग नहीं होता है। इस प्रकार जो माया-मय क्लेशों को पार कर जाता है। ऐसा योगी अपने इन्द्रिय निग्रह के परिणाम स्वरूप प्राप्त ज्ञान मार्ग के द्वारा परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है।

योग दर्शन में क्रिया योग द्वारा भी इन्द्रिय निग्रह में सहायता की बात बतायी गयी है—

तपः स्वाध्यायेश्वर-
प्रणिधानानि क्रियायोगः।

अर्थात् तपश्चर्या, स्वाध्याय (मन्त्र जाप) तथा ईश्वर के शरणापन्न हो जाना ही क्रिया योग कहलाता है। सूत्र में आगत तप अर्थात् तपश्चर्या ही सबका मूल है। तप से इन्द्रियों पर संयम किया जा सकता है। मन के साथ ही इन्द्रियों को रोकना और इनको हर प्रकार अन्तर्मुखी बनाना योग का अनुष्ठान कहलाता है। इन्द्रिय निग्रह ही तपस्या का मूल है। इन्द्रियों पर संयम न रखना ही नरक का हेतु है। व्यक्ति यदि इन्द्रियोन्मुख होता है तो उसके हर प्रकार के दोष नष्ट होते है। इन्द्रिय संयम कर लेने से ही सिद्धि प्राप्त होती है। वास्तव में अपने शरीर में विद्यमान मन सहित दस: हो इन्द्रियों पर जिसका अधिकार होता है वह जितेन्द्रिय है। ऐसा पुरुष पापों से बच जाता है। कठोपनिषद में भी कहा गया है कि—पुरुष का शरीर रथ है, आत्मा सारथि है, इन्द्रियाँ घोड़े है। जिस प्रकार कुशल घुड़सवार अपने चतुरता से नियन्त्रण रखता

# प्रेम और शरणागति

श्री विजयशंकर उपाध्याय

प्रेम का वास्तविक वर्णन तो हो नहीं सकता। प्रेम जीवन को पावनतम बना देता है। प्रेम गूँगे का गुड़ है। प्रेम का गुण अवर्णनीय होता है। रोमांच, अश्रुपात, प्रकम्प आदि तो उसके बाह्य लक्षण हैं, भीतर के रस प्रवाह को कोई कहे भी तो कैसे? वह धारा तो उमड़ती हुई आती है और हृदय को आप्लावित कर डालती है। सद्गुरु का सच्चा प्रेमी एक ही व्यक्ति करोड़ों जीवों को पवित्र कर सकता है।

बरसते हुए मेघ जिधर निकलते हैं उधर की धरा को तर कर देते हैं। इसी प्रकार प्रेमी भी प्रेम की वर्षा से यावत् चराचर को तर कर देता है। प्रेमी के दर्शन मात्र से ही हृदय तर हो जाता है। तुलसीदास महाराज ने ने कहा है—

मोरे मन प्रभु अस विस्वासा,
राम ते अधिक राम कर दासा।
राम सिन्धु घन सज्जन धीरा,
चन्दन तरु हरिसन्त समीरा॥

समुन्दर से जल लेकर मेघ उसे बरसाते हैं और वह बड़ा ही उपकारी होता है। प्रभु समुद्र हैं और सन्त मेघ। श्री प्रभु जी से ही प्रेम लेकर सन्त संसार पर प्रेम बरसाते हैं और जिस प्रकार मेघ जल नदियों, नालों से पृथ्वी को उर्वरा बनाते हुए समुद्र में प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार संत भी प्रेम की वर्षा कर अन्त में प्रेम को प्रभु में ही समर्पित कर

( पिछले पृष्ठ का शेष )

है तो वह कुशलतापूर्वक अपनी यात्रा सम्पन्न कर लेता है। लेकिन जो कुशल नहीं है, उस को उसके घोड़े (इन्द्रियां) परेशान करते हैं। वह अपनी यात्रा को नहीं कर पाता है। क्योंकि उसके घोड़े इधर-उधर भिड़कते हैं। इस लिए सड़क पर घोड़ों की तरह विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों को वश में करने के लिए धैर्य पूर्वक संयम से काम लेना चाहिए। धैर्य एवं संयम पूर्वक कार्य करने से निश्चय ही व्यक्ति विजयी होगा ही।

परम कल्याण घन श्री प्रभु जी हर साधक को स्वाध्याय करने के लिए हर तरह से उत्साहित करते हैं। स्वाध्याय के परिणाम स्वरूप मन धीरे-धीरे मन्त्र में आसक्त हो जाता है। चित्त स्वमेव प्रभु कृपा से वहां पहुँचकर निरुद्ध हो जाता है। ऐसा वीतरागी पुरुष स्वाध्याय एवं इन्द्रिय निग्रह से समाधि का आनन्द उठाता है, तथा धीरे-धीरे साधना के अन्य सोपानों को पारकर गुरुदेव की कृपा के फल-स्वरूप वह अपने यथार्थ स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इसलिए इन्द्रिय संयम की अति आवश्यकता है।

कर देते है।

प्रभु चन्दन के वृक्ष है तो सन्त पवनके समान है जिस प्रकार हवा चन्दन की सुगन्ध को फैला देती है उसी प्रकार सन्त भी प्रभु की गन्ध को प्रवाहित करते है। सन्त को देखकर प्रभु की स्मृति आती है अतएव सन्त प्रभु के स्वरूप होते है। प्रेमी की वाणी तथा नेत्र आदि सभी से प्रेम की वर्षा होती रहती है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रेम कैसे प्राप्त हो इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने कहा है—

बिनु सत्संग न हरि कथा,
तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु राम पद,
होई न दृढ़ अनुराग॥

किन्तु शोक है कि हम लोगों का प्रेम तो कञ्चन कामिनी, मोह, मान प्रतिष्ठा, में हो रहा है। हम तो सच्चे प्रेम के लिए कभी हृदय से कामना भी नहीं करते। जब तक प्रेम के लिए हृदय तरस नहीं जाता, व्याकुल नहीं होता तब तक प्रेम की प्राप्ति भी कैसे हो सकती है? अभी तक तो हम लोगों का चंचल चित्त मान, बड़ाई के पीछे मारा मारा फिरता है। जब तक हम लोगों का यह काम और लोभ सब ओर से सिमिट कर एक मात्र प्रभु के प्रति नहीं होता, तब तक हम श्री प्रभु को प्राप्त भी कैसे कर सकते है।

प्रेमी मूक रहते हुए भी भाषण देता है मानो उसका अंग अंग बोलता है। गोपियों ने प्रेम की शिक्षा किससे और कब ली? उनके चरित्र उपदेश देते रहे और देते रहेंगे। प्रेम में जिस अनन्यता और आत्म समर्पण की सराहना की गई है उसकी सजीव मूर्ति गोपियां है। इसी प्रकार रामायण में उसके प्राण स्वरूप प्रेम मूर्ति श्री भरत जी है।

यह हमारा शरीर ही खेत है। इस खेत में जैसा बीज बोया जायेगा। वैसा ही फल उपजेगा। बीज तो सद्गुरु जी का प्रेम पूर्वक ध्यान सहित जप है किन्तु जल बिना यह बीज उग नहीं सकता, यह जल है प्रभु कथा तथा गुरु कृपा। जैसे खेत में गेहूं बोने से गेहूं और आम बोने पर आम होता है उसी प्रकार हृदय रूप खेत में राम बोने पर राम ही उपजेगा।

हम प्रेम पूर्वक प्रभु के ध्यान और जप बीज बोयेंगे तो फल स्वरूप हमें प्रेम प्रभु ही मिलेंगे। प्रेम मय प्रभु का साक्षात्कार ही इस बीज का फल है। जल है प्रभु कथा और प्रभु कृपा, जो सन्तों के संग से ही प्राप्त होती है। अतएव प्रेम की प्राप्ति प्राप्ति का उपाय सत्संग ही है।

श्री प्रभु में हमारा प्रेम कैसा हो श्री राम का उदाहरण लीजिये। भगवान जटा युता से पूछते है- तुमने मेरा सीता को देखा है?

गोपियों को देखिये वे वन वन कृष्ण, कृष्ण पुकार पुकार कर अपने हृदय धन को ढूढ़ रही है। जितनी ही अधिक तीव्र उत्कंठा प्रेम में होती है उतना ही शीघ्र प्रेम मय प्रभु मिलते है।

श्री प्रभु जी जल्दी से जल्दी कैसे मिले यह भाव जाग्रत रहने पर ही प्रभु मिलते है। यह लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती चले, ऐसी उत्कट इच्छा ही प्रेम मय के मिलने का कारण है और प्रेम से ही प्रभु मिलते है। प्रभु का रहस्य और प्रभाव जानने से ही प्रेम होता है। थोड़ा सा भी प्रभु का रहस्य जानने पर हम उनके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते।

पपीहा मेघ को देखकर आतुर होकर विह्वल हो उठता है। ठीक इसी प्रकार हमें प्रभु के लिए पागल हो जाना चाहिए हमें एक एक पल उसके बिना असह्य हो जाना चाहिए मछली का जल में, पपीहे का मेघ में चकोर का चन्द्रमा में जैसा प्रेम है वैसा ही हमारा प्रेम प्रभु में हो। एक पल भी उनके बिना चैन न मिले, ऐसा प्रेम, प्रेम मय सन्तो में ही प्राप्त होता है।

श्री प्रभु जी की कृपा तो सब पर बराबर है ही, किन्तु पात्र बिना वह कृपा फलवती नहीं होती। शरणागत भक्त ही प्रभु के कृपा के पात्र होते है अतएव हमें सर्वतोभाव भाव से प्रभु की शरण होना चाहिए। सर्वथा उनका आश्रित बनकर रहना चाहिए। सर्व प्रकार से उनके चरणों में अपने को सौंप देना चाहिए। भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र ने कहा भी है—

तमेव शरणं गच्छ
सर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्ति-
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

गीता १८/६२

मन से, वाणी से, और कर्म से शरण होना चाहिए। तभी सम्पूर्ण समर्पण होता है यानी उस प्रभु को मन से पकड़ना चाहिए वाणी से पकड़ना चाहिए और कर्म से पकड़ना चाहिए। उनके किये हुए विधानो में प्रसन्न रहना उनके नाम, रूप, गुण और लीलाओं का चिन्तन करना मन से पकड़ना है। नामोच्चारण करना गुणगान करना वाणी से पकड़ना है और उनकी आज्ञानुसार चलना कर्म से यानी क्रियाओं से पकड़ना है।

### श्री प्रभुजी को मन से पकड़ना

सच्चा भक्त प्रभु के प्रत्येक विधान में दया का दर्शन करता रहता है, प्रभु तो दया और न्याय के समुन्द्र है। परम प्रेमी और सच्चे सुहृदय तो केवल वही है। उनकी दया में न्याय और न्याय में दया ओत-प्रोत है। सब कुछ प्रभु का पुरस्कार ही है। मृत्यु भी उनकी दया का चिन्ह है। जैसे निर्मल आकाश में परमाणु रूप से एवं बादल, बूँद और

ओलों के रूप में रहने वाले जल-को जो जल समझता है वही जल के सारे तत्व को जानने वाला है। वैसे ही निराकार और साकार मिलकर ही प्रभु का समग्र रूप होता है। इसी तत्व को भगवान् ने गीता के ७ वें अध्याय में विस्तार से बतलाया है। इस रहस्य को समझकर ही प्रभु का चिन्तन करना असली चिन्तन है।

प्रभु सारे सात्विक गुणों के समुद्र हैं। उनकी क्षमा, दया, समता, सरलता, उदारता पवित्रता अपरिमित है। वे ज्ञान, वैराग्य तेज से पूर्ण है सारे संसार के जीवों में जो दया और प्रेम दीखता है वह सब मिलकर प्रेम मय दया सागर की दया और प्रेम के एक बूंद के समान नहीं है। इस प्रकार उनके पवित्र चरित्रों का अवलोकन करना उनकी लीलाओं का चिन्तन करना है।

### वाणी से प्रभु को पकड़ना

प्रभु के नाम एवं मन्त्र का जाप प्रभु के गुण और स्तोत्रों का पठन-पाठन उनके नाम और गुणों का कीर्तन, विस्तार पूर्वक उनके भक्तों का वर्णन करना, परस्पर प्रभु विषयक ही चर्चा करना, विनय-पूर्वक सत्य और प्रिय वचन बोलना आदि भी प्रभु के अनुकूल वाणी का व्यवहार करना है। यह वाणी द्वारा प्रभु को पकड़ना है।

### कर्म से प्रभु को पकड़ना

प्रभु की इच्छा एवं आज्ञानुसार निःस्वार्थ भाव से केवल प्रभु के लिए ही कर्तव्य कर्मों का आचरण करना। जैसे पतिव्रता स्त्री पति के लिए ही पति के आज्ञानुसार ही काम करती है वैसे ही प्रभु की आज्ञानुसार चलना। याद रखिये उनकी शरण चले जाने पर अहित भी 'हित,' बन जाता है।

गरल सुधा सम अरिहित होई।

किसी साधक की वाणी—

जे करे आमार आश, तॉर करि सर्वनाश।
तबै जे छाड़े नाश, तारे हई दास रे दास॥

अर्थात् जो मेरी आशा करता है मैं उसका सर्वनाश कर देता हूँ इस पर भी जो मेरी आशा नहीं छोड़ता उसका मैं दासानुदास बन जाता हूँ। अतएव हम लोगों को संसार के सारे पदार्थों को लात मारकर प्रभु की शरण में जाना चाहिए। कंचन कामिनि से भी अधिक मीठी छुरी मान बड़ाई है। इससे तो बहुत ही बड़े-बड़े साधक समाप्त हो गये। इससे सदा बचे रहना चाहिए। यह संसार समुद्र बड़ा ही दुस्तर है इससे तैरने का सहज उपाय श्री प्रभुजी की शरण ही है।

मेरे पूज्यनीय जीवनदाता श्री गुरुजी महाराज सदा अपने प्रवचन में संकेत कर कहा करते हैं कि मैं कोई अपनी बात नहीं कहता। यह युग चक्र, काल चक्र और जग चक्र को एक साथ चलाने वाले श्री किसन चंद की वाणी है—

# राम बनाम रावण

ब्रह्मचारी श्री दासलाल

सृष्टि के प्रारम्भ से ही दो तत्वों का संघर्ष निरन्तर चला आ रहा है। देवता-दैत्य का, राम-रावण का, कृष्ण-कंस का, शिव-शैतान का। यह आदिकालीन युगों से चलता आ रहा है और चलता रहेगा। श्रुति एवं पुराणों में भी इन दो विरोधी तत्वों के संघर्ष का वर्णन पर्याप्त रूप में मिलता है। अन्य धर्म ग्रन्थों में भी प्रकारान्तर से इसका वर्णन पढ़ने को मिलता है। ईसाई धर्म में प्रभु और शैतान का युद्ध विस्तृत रूप से वर्णित है। शैतान ने परमात्मा के राज्य स्वर्ग पर अनेक बार चढ़ाईं की परन्तु विफल ही होता रहा। शैतान अब भी प्रभु का विरोधी है वह पाताल में रहता है या पृथ्वी लोक में जहाँ तामसिक वृत्तियों वाले मनुष्य होते हैं उनके मन में अपना राज्य स्थापित कर लेता है। ऐसी धारणा है ईसाई मतावलम्बियों की।

बहुधा ऐसे भी लोग हैं जो इन पौराणिक गाथाओं को मिथ्या या काल्पनिक कह कर निन्दा करते हैं। ये गाथायें काल्पनिक नहीं हैं अपितु तथ्यपूर्ण होती हैं। यह रूपकात्मक Allegorical होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य को धार्मिक व नैतिक शिक्षा प्रदान की जाती है। इससे हमें शिक्षा मिलती है कि 'रामवत् आचरणीयम् न रावणवत्।

अर्थात् हमें राम की तरह आचरण करना चाहिए न कि रावणवत्। कुमार्ग पर चलने का क्या फल होता है तथा सुमार्ग पर चलने से क्या फल मिलता है, इसकी शिक्षा पौराणिक इतिहास से मिलती है।

यह दो तत्व आज भी हमारे आपके प्रत्येक के भीतर विद्यमान हैं। पुराणों में तो स्थूलरूप देकर समझाया गया है परन्तु हमारे मानसिक जगत में यह सूक्ष्म रूप से अस्तित्व

(पिछले पृष्ठ का शेष)

दैवी ह्येषा गुणमयी,
मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते,
मायामेतान्तरन्ति ते।।
—गीता ७/१४

"यह अलौकिक अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं वे इस माया का उल्लंघन कर जाते हैं। अर्थात् संसार से तर जाते हैं।

अतएव हम लोगों को प्रेम और प्रेममय श्री प्रभुजी की प्राप्ति के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा सब प्रकार से प्रभुजी की अनन्य शरण लेना चाहिए।

में है। अन्दर में इनका द्वन्द्व युद्ध अविरल गति से चला आ रहा है। हम देखते हैं कि हमारे मन में सात्विक भाव आया है परन्तु दूसरे ही क्षण तमोगुण से आक्रान्त हो जाता है। तमोगुणाछन्न हमारा मन हो जाता है जो विवेक को ढक लेता है। सत्वगुण और तमोगुण का यह युद्ध ही राम तथा रावण युद्धका प्रतीक है। सत्वगुण लघु तथा प्रकाशक है यह उत्कर्ष की ओर ले जाता है, परन्तु तमोगुण 'गुरु वरणकम्' है। जो भारी तथा आवरण का कार्य करता है, इससे ज्ञान आवृत हो जाता है। सदसत् का ज्ञान नहीं होने देता। बृहदारण्यकोपनिषद् में एक उपाख्यान आता है जिसके अनुसार देवताओं ने वाक्, श्रोत चक्षु तथा मनादि इन्द्रियों से उद्गान करने के लिए कहा, इन सबने पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया। फलतः दैत्यों ने इन सबको पाप से बेध डाला। इसलिये आज भी यह इन्द्रियां पापपूर्ण कार्य में लगी रहती हैं। केवल प्राण ने पक्षपात किया, जिसे दैत्य पाप से न बींध सके। इसलिये यह इन्द्रियाँ आज भी कुमार्ग पर चलती रहती हैं।

सांख्ययोग में क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट वृत्ति भेद से यह दो प्रकार का माना है। क्लिष्ट संस्कार संसार में प्रवृत्त कराते हैं जिसका परिणाम अन्ततः दुःख ही होता है। अक्लिष्ट संस्कार इसके विपरीत जीव को विवेक—ज्ञानोन्मुख कराता है। जो श्रेय को प्रदान कराने वाला है। "अभ्यास वैराग्याभ्याम् तन्निरोधः" सूत्र पर भाष्य करते हुए भगवान व्यासदेव जी ने इसी तथ्य पर प्रकाश डाला है। उनके शब्दों में "चित्त नदी नामोभयतो-वाहिनी। वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्य प्राग्भारा विवेकविषय निम्ना सा कल्याणवहा, संसार प्राग्भारा अविवेकविषय निम्ना पापवहा।" अर्थात् यह चित्त नदी कल्याण तथा पाप दोनों प्रकार से बहती है। जो विवेक मार्गसे कैवल्य की ओर बहती है वह कल्याणवहा है तथा जो अविवेक का आश्रय लेकर संसारोन्मुख बहता है वह पाप के लिए बहती है।

इन क्लिष्टाक्लिष्ट संस्कारों में द्वन्द्व युद्ध बराबर चलता रहता है। यह एक-दूसरे के छिद्र अर्थात् विरोधी अवसर को पाते ही अपना अधिकार जमा देते हैं।

तमोगुण पर योगीका पूर्णरूपेण अधिकार होता है, सतोगुण का पूर्ण उदय होता है। जहां योगी प्रकाशमान हो जाता है। यही राम का रावण पर विजय है। प्रज्ञाप्रसाद पर आरूढ़ होकर योगी दीवाली मनाता है।

अन्तर्जगत के पथिक को इस द्वन्द्व-युद्ध का अधिक अनुभव होता है। तमोगुण से अभिभूत होता देखकर साधक परमात्मा से प्रार्थना करता है तथा अपने आपको धिक्कारने लगता है। इसी अवस्था में तुलसीदासजी अपने आप ही 'ममता तू न गई मेरे मन ते'। 'मो सम

# निर्भय जीवन का महत्व

आचार्य श्री भद्रसेन

निर्भयता जीवन का एक परम हितकारी गुण है। निर्भय जीवन ही सारे सुख, सम्पत्ति, धन, ऐश्वर्य प्राप्ति का एक सर्वोत्तम साधन है। भयभीत मनुष्य संसार में कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। वह सदा मुसीबतों और संकटों से डरता रहता है और थोड़ी सी आपत्ति तथा मुसीबतों के आ पड़ने पर भी वह भयभीत होकर घबरा जाता है और अपने महत्वपूर्ण कार्यों को भी छोड़ बैठता है। भयभीत मनुष्य संसार की छोटी से छोटी ताकतों और साधारण से साधारण प्राणियों से भी सदा डरता रहता है, किन्तु जो मनुष्य सदा निर्भय रहता है उसे संसार की बड़ी से बड़ी ताकत तथा महा भयंकर क्रूर और हिंसक प्राणी भी भयभीत नहीं कर सकते। वह आपत्तियों और संकटों से भी नहीं घबराता। वह निर्भय होकर अपने कर्तव्य-पथ पर चलता रहता है। उससे कभी भी विचलित नहीं होता। निर्भयता के इस महान् गुण के कारण ही हमारे पूर्वजों ने लोकोत्तर कार्य किये हैं। जरा अपने पूर्वजोंकी निर्भयता को तो देखो? यदि राम और लक्ष्मण निर्भय न होते तो क्या किशोर अवस्थामें ही ताड़का जैसी महा-भयंकर राक्षसी का वध कर सकते थे। लगातार चौदह वर्ष तक निशाचरों, दानवों और क्रूर तथा हिंसक प्राणियों से पूर्ण पर्वतों और वनोंमें निर्भय और निःशंक विचर सकते थे। रावण जैसे महाबली, दुर्जेय दानव को भी उनकी दानवता का फल चखाकर उसे यमलोक का यात्री बना सकते थे। ऐसे महान् और आश्चर्यजनक कार्यों को कर दिखाने में उनकी निर्भयता, उनका अदम्य उत्साह ही एकमात्र कारण है। और तो क्या सीता जैसी कोमलांगी देवी भी किस प्रकार

( पिछले पृष्ठ का शेष )

सील कुटिल खल कामी।' इत्यादि पदों द्वारा जनर्दाणा को अभिव्यक्त करते हैं। माया को पार करना अत्यन्त कठिन है। भगवानने इसी 'दुरत्यया' कहा है। जिस प्रकार दुहूँ रावण नाना प्रकार के मायावी कार्यों का अवलम्ब करता था उसी प्रकार यह माया विभिन्न रूपों में व्याप्त होती है।

श्रेय मार्ग का अनुसरण करके ही जीव एकान्तिक तथा आत्यन्तिक सुखको प्राप्त कर सकता है, उसके विपरीत प्रेय मार्ग का अनुगामी दुःख पर दुःख भोगता रहता है। अतः प्रत्येक मानव को श्रेय पथ का सम्पादन करना चाहिये।

निर्भय बनकर भयावह वन में विचरती है। ऐसे डरावने और भयजनक स्थानोंमें विचरते हुए उसे तनिक भी भय प्रतीत नहीं होता। यदि वन में अकेली भी रह जाती है तो भी वह किसी हिंसक तथा क्रूर प्राणी से न डरती हुई निर्भय होकर विचरती है। भय उसके पास भटकने भी नहीं पाता। वह क्रूर रावण के कारागार में बन्द होती हुई भी उसे शेरनी की तरह कड़क कर उत्तर देती है। छोटी आयु में ही ग्वालों के संग विचरने वाले गोपालकृष्ण बड़े-बड़े भयंकर जंगली सांडों, सांपों तथा पूतना जैसी महा-भयंकर राक्षसी को भी मार गिराते हैं। कंस जैसे क्रूर और बली राजा को भी मल्ल-युद्ध में समाप्त कर उसके मान का मर्दन कर देते हैं। ये सब इनके निर्भय जीवन का ही ज्वलन्त परिणाम है। प्रताप, शिवा, गांधी और दयानन्द ये सब निर्भयता का ही ज्वलन्त उदाहरण थे। इस लिए उन्होंने संसार में वह अलौकिक कार्य कर दिखाये कि जिनको सुनकर लोग चकित रह जाते हैं और दांतों तले उंगली दबा लेते हैं। अतः अपने जीवन को एक आदर्शमय जीवन को बनाने के लिये प्रत्येक नर-नारी को ऐसे महा पुरुषों और आदर्श देवियों से शिक्षा लेनी चाहिए तथा अपने अन्दर से कायरता और भीरुता को भगा कर निर्भय जीवन व्यतीत करना चाहिए। याद रखो ? निर्भय जीवन ही सुख का सार और धन-ऐश्वर्य तथा वीरता का भण्डार है।

वास्तव में हमारे आत्म-स्वरूप में भय का लेश भी नहीं है। "तत्र न भयं किञ्चिनास्ति" अर्थात् उस आत्मस्थिति में कुछ भी भय नहीं किन्तु फिर भी हम अपने अन्दर नाना प्रकार के भय तथा चिन्ता पैदा कर लेते हैं या हमारे अन्दर करा दिये जाते हैं और हम अपने को भीरु तथा डरपोक समझने लगते हैं। जब मैं अमृतसर में एक ब्रह्मचर्य आश्रम में पढ़ता था तो एक रात्रि को पिशाब करने उठा, चांदनी रात थी, सामने क्या देखता हूं कि दीवार के सहारे एक मनुष्य खड़ा है और हिलता-जुलता तथा चलता भी है। उसे देखकर मैं भयभीत हो गया और भय से कांपने लगा। पीछे पता लगा कि वह तो मेरी अपनी ही परछाईं थी, जो कि दीवार पर पड़ रही थी। इसी प्रकार अज्ञानवश भूत-प्रेतों के भय में भी हम भयभीत हो जाया करते हैं।

कुछ हमारे अन्दर ईश्वर-प्रदत्त स्वाभाविक भय भी है। वह है पापों और बुराइयों से बचने और आपत्तियों तथा संकटों से आत्म-रक्षा करने का। इतना भय तो हमारे लिये कल्याणकारी है और वह न केवल हमारे अन्दर प्रत्युत पशु-पक्षियों के अन्दर भी विद्यमान है। गाय चुपके-चुपके अनाज की ढेरी में मुंह मारने और उसे खाने के लिए आती

है, किन्तु सामने मालिक को बैठा देखकर, इस भय से कि कहीं मुझे डण्डा उठाकर न मार दे, वापस लौट जाती है। इसी प्रकार जंगल में हिरन बेधड़क घूम रहे हैं, किन्तु शिकारी की बन्दूक की आवाज सुनते ही सरपट भाग जाते हैं और एक भारी विपत्ति से आत्म-रक्षा करने में समर्थ हो जाते हैं। अतः इस प्रकार का भय तो हमें पापों और खतरोंसे बचाता है, वह हमारे सुखका कारण बनता है, दुःख का नहीं। किन्तु हम भूत-प्रेत से डरते हैं, मौतसे डरते हैं तो यह भय हमारे लिए दुःख और चिन्ता का कारण बन जाता है।

जहाँ हमारे बच्चों को निर्भय तथा निडर बनना था, वहाँ खेद से लिखना पड़ता है कि हमारे बच्चे बचपन से ही भीरु और डरपोक बन जाते हैं और छोटेपन के भय के संस्कार उन्हें जन्म भर के लिए दुःखदायी सिद्ध होते हैं। छोटेपन में उनके भयका कारण वह स्वयं नहीं होते, प्रत्युत उनके माता-पिता तथा अन्य सगे सम्बन्धी हुआ करते हैं। बच्चा तो स्वभाव से ही निर्भय होता है। जिस सांप से लोग डर कर दूर भाग जाते हैं, वह उसके साथ निर्भय होकर खेलता है। अन्य हिंसक प्राणियों को देखकर भी उसके मनमें भय पैदा नहीं होता। अतः वास्तव में भय का कारण बचपन में उसके माता-पिता ही हैं। बच्चा जब रोने लगता है तो माता-पिता डराना शुरू कर देते हैं—चूहा आया, बिल्ली आई, बाबा आया, बन्दर आया और जब इतने पर भी वह चुप नहीं होता तब भूत आया, प्रेत आया, डायन आई चुड़ैल आई इत्यादि बनावटी तथा कृत्रिम चीजों से उसे भय दिलाया जाता है और इस प्रकार वह बालक जन्म से ही चूहा, बिल्ली, कुत्ता, बन्दर, भूत और प्रेत आदि से डरने लगता है और उसके मन पर भय का भूत सवार हो जाता है। जो कि जन्म भर उसे डराता रहता है। अतः जो माता-पिता चाहते हैं कि हमारे बालक भीरु तथा डरपोक न बनें और सदा निर्भय जीवन व्यतीत करें। उनको चाहिए कि वे छोटी आयुमें उन्हें चूहे, बिल्ली, भूत, प्रेत आदि का भय न दिलायें। याद रखो ? छोटी अवस्था में पड़े संस्कार अमिट हो जाते हैं। जिनका आगे चलकर दूर होना अत्यन्त दुष्कर होता है। अतः छोटी आयु में पड़े भय के संस्कार भी उनकी आत्मा के ऊपर अमिट हो जाते हैं जो बड़ी आयु में भी उसे डराने और भीरु बनने का कारण बनते हैं। इसलिए माता-पिता का कर्तव्य है कि वे अपने बच्चों को बजाय भय दिखाने के उन्हें शिवाजी, प्रताप, राम, लक्ष्मण, अर्जुन और भीमादि की वीरतामय कहानियाँ सुनाकर उनके अन्दर निर्भयता के भाव भरें।

भय के जहाँ अन्य कारण हैं, एक कारण स्वार्थमय जीवन भी है। स्वार्थ-परायण पुरुष सदा भयभीत रहता है उसे सदा इस बात का डर रहता है कि कहीं मेरे स्वार्थ में बाधा न पड़ जाय। क्योंकि स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थ में इतना अंधा बन जाता है कि वह अपने स्वार्थ को पूर्ण करने के लिए धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, हानि-लाभका कुछ विचार नहीं करता। अतः उसे सदा इस बात का भय लगा रहता है कि मेरे अधर्माचरण तथा मेरी पर-हानि तथा पर-पीड़ा की प्रवृत्ति को जानकर कहीं कोई मुझे हानि न पहुँचा दे। कहीं कोई मेरी आत्म-हत्या न कर दे। कहीं मेरे स्त्री पुत्रादि को कोई पीड़ा न पहुँचा दे। कहीं मेरे घर बार या मिल में आग न लगा दे। रात-दिन वह इसी भय और चिन्ता में व्याकुल बना रहता है। अतः निर्भय रहने के अभिलाषीको स्वार्थ-परायणता का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। अपने जीवन को पर-हित-परायण तथा परोपकारमय बनाना चाहिए। याद रखो ? परोपकार-प्रिय तथा पर-हित-परायण पुरुष को संसार में किसी से भी भय नहीं होता। वह सदा निर्भय जीवन व्यतीत करता है।

भय का एक कारण मनोबल तथा आत्म बल की न्यूनता भी है। जो जितना आत्म-बल तथा मनोबल से हीन है, वह उतना ही डरपोक तथा भीरु होता है। आत्म बल से रहित मनुष्य के लिए प्रत्येक पदार्थ भय का कारण बन जाता है। पशु पक्षी, चोर, डाकू, वन तथा पर्वत सब वस्तुएं उसे भय दिलाने वाली बन जाती हैं। जरा सी आपत्ति और सङ्कट भी उसे भयभीत कर देते हैं। अतः सदा निर्भय रहने के अभिलाषी को अपने अन्दर आत्म-बल तथा मनोबल को अवश्य धारण करना चाहिए।

भय का एक मुख्य कारण अपने अन्दर ईश्वर विश्वास का न होना है। हमें ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास ही नहीं, ईश्वर का अटल विश्वासी सदा निर्भय बना रहता है। उसे संसार की भयङ्कर से भयङ्कर शक्ति भी भयभीत नहीं कर सकती। वेद में कहा गया है—

**सख्ये त इन्द्र ! वाजिनो मा भेम शवसस्पते।**

हे सकल बलों के भण्डार इन्द्र ! हम तेरे मित्र बन कर संसार की किसी भी शक्ति से न डरें।

| | | |
|---|---|---|
| क्रोध जैसा, जहर नहीं। | मान जैसा, वैरी नहीं। | दगा जैसा, अपराध नहीं। |
| सन्तोष जैसा, सुख नहीं। | मिथ्या जैसा, अंधा नहीं। | क्षमा जैसा, अमृत नहीं। |
| उद्यम जैसा, मित्र नहीं। | सत्य जैसा, धरणा नहीं। | तृष्णा जैसा, दुःख नहीं। |
| ज्ञान जैसा, प्रकाश नहीं। | भय जैसा, पाप नहीं। | |

# निशा-स्वर

श्री अशोक 'व्याकुल'

अस्त होता
रवि लगा ऐसा मुझे
जैसे
किसी काले कुटिल के हाथ से
स्वर्ण निकला
रह गया तम शेष,
और
फिर तम से कुटिल पकड़ा गया हो—
लौट कर ही चाहता
वह प्राप्त करना स्वर्ण को,
क्योंकि उसने
यत्न की दुरबीन से
देखे चमकते
पिण्ड जैसे स्वर्ण के टुकड़े,
और वह अद्वैत
अब तम से बना है हंस।
देख कर उसकी दशा
मैं यामिनी
जो ओढ़कर बैठी हुई थी
ओढ़नी तारों टकी
औ विरह में,
भोर के भी अश्रु टपकाती
झींगुरों के स्वर सदृश बोली—
"यदि प्राप्त करना
चाहते तुम स्वर्ण हो तो
ओस के आँसू बहाओ
और तम को त्याग कर
सद्वृत्तियों का अर्घ्य दो
प्राची दिशा के
कुण्ड में ज्वाला जगाने
फूँक दो सत्कार्य को
तब तुम्हें लक्ष्यागमन की
खुद मिलेगी सूचना
जागे हुए
इन पक्षियों के शोर से
हर्ष का 'जलजात'
फिर ऐसे हँसेगा
भोर का स्वागत कि जैसे
ताल में
कच्ची गुलाबों की कली है।"

मन से, वचन से, कर्म से, दुःख दे किसी को भी नहीं।
करता रहूँ मैं सर्वदा, 'वध' हो न यह मुझसे कहीं॥ —प्रेम

# गुरु मंत्र

श्री रघुवीरचन्द एम० ए०

वैसे तो सारा संसार ही पागल है। कोई धन के लिये, कोई सुख के लिये, कोई कीर्ति के लिये और कितने ही लोग अन्य सैकड़ों वस्तुओं के लिये, कुछ लोग सोना पाने के लिये, कोई पति के लिये, कोई स्त्रीके लिये तथा अन्य छोटी-छोटी बातों के लिये अथवा दूसरों पर जुल्म करने के लिये पागल रहते हैं। परन्तु ईश्वर प्राप्ति के लिए पागल नहीं होते। वह पुरुष धन्य है, जो ईश्वर प्रेम के कारण पागल हो। परन्तु उसे वे कैसे समझ सकते हैं? वे विचार करने लगते हैं और अपने मनमाने साधनों द्वारा ढूंढने का प्रयत्न करते हैं तथा भटकते-भटकते समय नष्ट कर देते हैं।

ठीक ऐसे ही समय अतीत काल से ऐसे मार्ग-दर्शक सुधारक एवं गुरु लोगों का प्रादुर्भाव इस धरा पर होता आया है, जो मनुष्य देहधारी प्राणियों के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुये हैं। वे अरण्य निवासी वल्कलवस्त्रधारी, जंगल के फल-फूल खाने वाले तथा ईश्वर स्वरूप में लीन रहने वाले ऋषि, मुनि, योगी एवं सन्त अनादि काल से अपने अनुभव को लोक हित में सरल उपायों के रूप में बताते आये हैं। उन्हीं उपायों में से गुरु मन्त्र भी एक है, जो ऐसी चाबी है, जिससे पराशक्तियुक्त 'दिव्य भण्डार' का ताला सरलता से खोला जा सकता है। गुरु अपने सरल स्वभाव से दीक्षा के दिन अपने शिष्यों को इसे बता देते हैं।

चित्त मन्त्रः

आराधक चित्त को ही मन्त्र कहते हैं। भगवान के नाम की आराधनायुक्त स्तुति ही मन्त्र है जो ईश्वर में एक हो जाता है। मन्त्र चित्त की तन्मय दशा है। मंत्र में शक्ति का स्पन्दन होता है जो प्राण के साथ मिलकर मानव को ऊँचा उठाता है।

प्राणों की बहिर्मुख गति को अन्तर्मुख करना ही मंत्र साधना है, जो प्राण निरोध से प्राण अपान की गतिको सम बना सकता है।

किसी मन्त्र या ईश्वर के नाम को बार-बार दोहराना ही जप है। कलियुग में इससे श्रेष्ठ एवं सरल साधन अन्य कोई नहीं है। लीलाधारी भगवान् कृष्ण ने गीता के १०वें अध्याय के २५वें श्लोक में इसकी महत्ता इस प्रकार बताई है।

यज्ञानां जपयज्ञो अस्मि,
स्थावराणां हिमालयः।

सब प्रकार के यज्ञों में मैं जप यज्ञ हूँ और स्थिर रहने वालों में मैं हिमालय पर्वत हूँ। इसी की पुष्टि सन्त तुलसीदास ने रामायण में भी की है। ध्रुव, प्रह्लाद, वाल्मीकि तथा अन्य महर्षियों ने जपरूपी 'अमूल्य' विधि द्वारा अपना तो जो कुछ भला किया सो किया परन्तु लोक-कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त किया।

जप में मन्त्र का अर्थ न जानते हुए भी जप का लाभ प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होने लगता है। मन्त्रार्थ द्वारा किये हुवे जप से तो कम समय में ही अधिक अनुभूति होने लगती है। जप के लिये प्रभावशाली अस्त्र माला है, जो तुलसी अथवा रुद्राक्ष की हो। माला ऐसे स्थान पर रखनी चाहिए जैसे जेब, में तकिये के नीचे जिससे जप का स्मरण होता रहे। मन ही मन में किया जाने वाला जप मानसिक, बोल के किये जाने वाला जप वैखरी तथा धीरे-धीरे गुनगुनाकर करने वाला जप उपांशु जप कहलाता है। मानव अपने प्रयत्न से श्री गुरुदेव जी के मार्ग-दर्शन से एवं दिव्य तथा आनन्दमय लोक को अपने अन्दर गुरु मन्त्र के जपने से प्राप्त कर लेता है। मानव शरीर में शक्ति का दिव्य भण्डार है उसको कम समझने में वह अनर्थ करता है। इसलिये स्वयं को वह कंगाल, अकर्मण्य तथा दुःखी समझने लगता है। कमजोरी ही मृत्यु है। वास्तव में उसके अन्दर सूर्य, चन्द्र तथा वायु के समान उल्लास व तेज भरा है और राजा देवताओं के समान समृद्धि सम्पन्नता। इसका आभास निरन्तर गुरु मन्त्र, जाप से ही होता है। गुरु मन्त्र के प्रभाव को जितना अधिक कहा जाय उतना ही कम है। गुरु मन्त्र महेश्वर है। आत्मा तथा शरीर के भेद को इसी के द्वारा जाना जाता है। यह परम पूज्य गुरुदेव द्वारा दीक्षित गुरु-मन्त्र अनादि तथा परम्परायुक्त है जो अजपा-जप के रूप में हर प्राणी के अन्दर प्राकृतिक रूप से चलता रहता है। यदि अजपाजप का क्रम रुक जाता है तो प्राणी की मृत्यु हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य अनजाने में ही इस मन्त्र को २४ घण्टे में २१६०० बार दोहराता रहता है। यही श्वास-प्रश्वास की क्रिया है। २१६०० बार मन्त्रको अर्थ सहित जपने से इसका प्रभाव अद्भुत है।

यह मन्त्र न किसी सम्प्रदाय का है न किसी पंथ का, न समाज का, न किसी देश विशेष का बल्कि सार्वभौम व समस्त जगत का। इसकी महान शक्ति को ईश्वर-प्रेरणा से तथा गुरु प्रसाद से अनुभव किया जा सकता है। कुण्डलनी जागरण प्राणों को बहिर्मुख गति को अन्तर्मुख करा, इडा एवं पिंगला में शक्ति संचार, शरीर, मन, बुद्धि तथा चित्त की शुद्धि चित्त की वृत्तियों का निरोध तथा अनेकानेक अनुभूतियां एवं सिद्धियां इसी गुरु-मन्त्र के जपने से सम्भव है। खाते, पीते, सोते, जागते, चलते, फिरते, उठते, बैठते, श्वास-प्रश्वास में जपा जा सकता है। हमें गुरुसे यही आशीर्वाद लेने की इच्छा करनी चाहिए।

संक्षेप में अजपाजप में सहज प्राणायाम है, स्वाभाविक ध्यान है। यह सहज होने पर भी सिद्ध मार्ग है। मुक्ति का सोपान है, विजय की पताका है, भव सागर पार करने की नौका है तथा समाधि का रास्ता है।

# शिव

❀ सुकवि श्री जगदीश शरण, बिलगइयां 'मधुप'

(म) मदन-दहन, षड़ रिपु शमन,
भरन सकल भण्डार।
दाता, त्राता जगत के,
मारक, पालन हार।

(हा) हाला पीकर सहज ही,
त्रिभुवन लिया बचाय।
महादेव पद पा लिया,
गरल सुकण्ठ बसाय।

(शि) शिव-शिव-शिव-शिव रटत ही,
शिव समान बन जात।
भृंग कमल का ध्यान धर,
कमल मध्य धुसजात।

(व) वदन, वसत आभा अमित,
लजत कोटि शत काम।
शक्ति सहित शव शिव बना,
शव, बिन शक्ति अकाम।

(रा) राजत सिर पर शशि सुभग,
पावन गङ्गा धार।
बांट दिया वैभव सभी,
भिक्षुक स्वयं उदार।

(त्रि) त्रिभुवनपति जिनके चरण,
जिनके चरण वन्दत बारंबार।
अशिववेष, पर शिव करें,
महिमा अमित, अपार।

[ दतिया, (म. प्र.)

# तत्व-विचार

✻ वैद्य श्री रामधन शर्मा शास्त्री

—✿✿—

प्रत्येक मनुष्य को इन प्रश्नों पर विचार करना चाहिये। (१) प्रकृति क्या है, (२) पुरुष किसे कहते है? (३) संसार क्या है? (४) हम कौन है? (५) रागद्वेष, काम क्रोधादि जीव के अन्तःकरण में रहते हैं? क्या इनका समूल नाश भी हो सकता है? (६) संसार में हमारा क्या कर्तव्य है? (७) जीव, परमात्मा, प्रकृति और संसार ये अनादि है या आदि वाले हैं। इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है और (८) बन्धन और मोक्ष क्या है? इन आठ प्रश्नों पर विचार करने से ज्ञान की वृद्धि होती है और उत्तरोत्तर ज्ञानके बढ़नेसे आत्मा में इनका यथार्थ बोध हो जाता है। जीवन कृतकृत्य हो जाता है। थोड़े शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। यद्यपि इन प्रश्नोंका विषय बहुत ही गहन है और सभी प्रश्न अति महत्व के हैं। इन पर विवेचना करना साधारण बात नहीं है। वास्तव में इनका तत्व महात्मा पुरुष ही जानते हैं। किन्तु मैं अपनी साधारण बुद्धि के अनुसार इन प्रश्नों पर अपने विचार संक्षेप में आपके सामने उपस्थित कर रहा हूँ।

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। भगवान गीता में कहते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि

—गीता १३/१९

हे अर्जुन! प्रकृति और पुरुष इन दोनों को तू अनादि जान। इनमें पुरुष तो अनादि और अनन्त है और प्रकृति अनादि, सान्त है। पुरुष सर्वव्यापी, नित्य, चेतन एवं आनन्दरूप है। प्रकृति विकार वाली होने के कारण जड़ अनित्य और दुःखरूप है। यह समस्त जड़वर्ग संसार प्रकृति का विकार है। प्रकृति जब अक्रिय रूप हो जाती है तब प्रकृति का विकार रूप यह जड़वर्ग संसार प्रकृति में लय हो जाता है। इसी को महा प्रलय कहते हैं और जब यह प्रकृति पुरुष के संयोग से क्रिया वाली होती है तब सर्गके आदि में इस जड़वर्ग संसार का विस्तार होता है। इसलिये कार्य और कारण के विस्तार में प्रकृति कोही हेतु बतलाया गया है। गीता में कहा है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते

—गीता १३/२०

सबसे पहले महत्तत्व की उत्पत्ति होती है, इस महत्तत्व को ही समष्टि बुद्धि कहते हैं। सम्पूर्ण जीवों की व्यष्टि बुद्धियाँ इस समष्टि बुद्धि का ही विस्तार है। तदनन्तर इस महत्तत्व समष्टि अहंकार उत्पन्न होता है। समष्टि अहंकार से संकल्पात्मक समष्टि मन की उत्पत्ति होती है और उसी अहंकार से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, इस प्रकार क्रम से पाँच सूक्ष्म महाभूतों की उत्पत्ति होती है। यही इस जड़ वर्ग संसार के कारण हैं। कोई-कोई महर्षि इनको सूक्ष्म तन्मात्राओं [illegible] और इन्द्रियों को

कारण भूत अर्थ भी कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि इन सूक्ष्म तन्मात्राओं की उत्पत्ति अहंकार से बतलाते हैं और भगवान कपिल महत्तत्व से। वास्तव में इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि समष्टि बुद्धि, समष्टि अहंकार और समष्टि मन—ये तीनों अन्तःकरण के ही अवस्था भेद से तीन भिन्न-भिन्न नाम हैं। तदनन्तर इन सूक्ष्म भूतों से या कारण रूप तन्मात्राओं से पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और इन्द्रियोंके पाँच विषयोंकी उत्पत्ति अथवा विस्तार होता है। या यों कहिये कि यह सम्पूर्ण संसार उन पंच भूतों का ही विस्तार या कार्य है।

पुरुष के दो भेद हैं—परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा एक है, परन्तु जीवात्मा असंख्य हैं। परमात्मा के भी दो स्वरूप हैं—एक गुणातीत जिसे सच्चिदानन्द कहते हैं, जो सदा ही माया और माया के कार्य संसार से अतीत है एवं जो अनादि और अनन्त है। सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं ब्रह्म (तै० २/१), विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ० ३/९/२८), आनन्दो ब्रह्मेति (तै० ३/६), एकमेवाद्वितीयम् (छा० ६/२/१) एषास्य परमागतिरेषास्य परमा सम्पत्…… एषोऽस्य परमानन्दम् (बृ० ४/३/३२) आदि विशेषणों से श्रुतियाँ जिसका वर्णन करती हैं। इस सगुण ब्रह्म जो माया विशिष्ट ईश्वर महेश्वर सृष्टिकर्ता परमेश्वर प्रभृति अनेक नामों से श्रुति स्मृतियों में वर्णित है। वस्तुतः विज्ञानानन्द घन निराकार ब्रह्म और महेश्वर सगुण ब्रह्म सर्वथा अभिन्न, दो नहीं है। परमात्मा के जिस अंश में सत्त्व रज तम त्रिगुणमय संसार है, श्रुति स्मृतियों ने उसको सगुण ब्रह्म और जहाँ त्रिगुणमयी प्रकृति और संसारका अत्यन्त अभाव है उसको गुणातीत विज्ञानानन्द घन नाम से वर्णित किया है। वास्तव में परमात्मा शब्द से सगुण निर्गुण दोनों मिलकर समग्र ब्रह्म ही समझना चाहिए। यों तो सगुण ब्रह्म के सम्बन्ध में भी दो भेदों की कल्पना की गई है। एक निराकार सर्व व्यापी सृष्टिकर्ता ईश्वर और दूसरा साकार ब्रह्म ब्रह्म का अवतार, जैसे श्री रामचन्द्र जी और श्रीकृष्णचन्द्र भगवान में कोई अन्तर या भिन्नता नहीं है। कुछ लोग बिना सोचे समझे कह दिया करते हैं कि सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म साकार नहीं हो सकते। इन लोगों के सम्बन्ध में यह कहने का मुझे अधिकार नहीं है कि ऐसा कहना उनकी भूल है। हाँ इतना जरूर कहा जाता है कि इन्हें अपने इस सिद्धान्त पर फिर से विचार जरूर करना चाहिये। जिस प्रकार व्यापक निराकार अव्यक्त अग्नि तथा किसी स्थान विशेष में प्रज्वलित व्यक्त अग्नि में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। एक ही अग्नि के दो रूप हैं, इसी प्रकार निराकार और साकार परमात्मा को समझना चाहिए। साधनों द्वारा सर्व व्यापी परमात्मा सब जगह व्याप्त रहते हुए ही प्रज्वलित अग्नि की भाँति प्रकट हो जाना शास्त्र सम्मत और युक्तियुक्त भी है। भगवान ने स्वयं श्रीमुख से कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा,
भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृति स्वामधिष्ठाय,
संभवाम्यात्ममायया ॥
—गीता ४/६

मैं अविनाशी स्वरूप अजन्मा होने पर भी सब भूत प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके योग माया में माया से प्रकट होता हूँ। इसके अतिरिक्त (केन उपनिषद) में इन्द्र अग्नि आदि देवों के सामने ब्रह्म का यक्ष रूप में प्रकट होना प्रसिद्ध है। किसी-किसी का कहना है कि जब भगवान एक जगह प्रकट होते हैं। तब अन्य स्थानों में उनका अभाव हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा कथन भगवान के तत्व को न जानने के कारण ही होता है। हम देखते हैं कि यह बात तो अग्नि में चरितार्थ नहीं होती। जब पत्थर या दियासलाई को रगड़ से अग्नि प्रकट होती है—तो निराकार से साकार में परिणित होती है। तब क्या सब स्थानों में उसका अस्तित्व मिट जाता है, फिर भगवान की तो बात क्या है। भगवान तो ऐसे सर्वव्यापी हैं, कि अग्नि आदि पञ्च महाभूतों की कारण रूपा प्रकृति भी उनके किसी अंश में उनके संकल्प के आधार पर स्थित है। ऐसे परमेश्वर के सम्बन्ध में इस प्रकार का कुतर्क करना अपनी बुद्धि की न्यूनता का ही परिचय देना है।

अब जीवात्मा की बात रही— भली-भांति देखने पर यही सिद्ध होता है कि—जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है क्योंकि-श्रुति स्मृतियों में जीवात्मा को परमात्मा का अंश कहा है। भगवान कहते हैं।

ममैवांशो जीव लोके
जीवभूतः सनातनः।

इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है गोसाईं जी भी कहते हैं।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।

कह कर इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं अंश अंशी से उसी प्रकार भिन्न नहीं है जिस प्रकार तरंगें समुद्र से भिन्न नहीं है। परन्तु दीखती भिन्न है। जीव के भी दो भेद है—एक बद्ध दूसरा मुक्त। बद्ध वह है जो शरीर की उत्पत्ति और विनाश में अज्ञान के कारण आत्मा का जन्मना और मरना मानता है। और मुक्त उसे कहते है— जिसके अज्ञान का नाश हो गया है। और जो आवागमन के चक्र से सर्वथा छूट गया हो। वास्तव में तो ऐसे पुरुष को जीव संज्ञा ही नहीं है। उसकी स्थिति तो अनिर्वचनीय होती है।

मुक्त भी दो प्रकार की है—एक निराकार सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में अभेद रूप से मिल जाना और दूसरा साकार सगुण ब्रह्म के परम धाम में (जिसको शास्त्रों में सत्य लोकादि निर्देश किया है) जाकर सगुण पुरुषोत्तम भगवान की सन्निधि में निवास करना। इस दूसरे प्रकार की मुक्ति के भी चार भेद हैं। सालोक्य,

सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य कोई-कोई महानुभाव सार्ष्टि नामक बताकर एक प्रकार की मुक्ति के पांच भेद करते हैं परन्तु सार्ष्टि मुक्ति सारूप्य के अन्तर्गत आ जाती है। जब तक जीव को अज्ञान रहता है तभी तक उसकी बद्ध संज्ञा है जब उसे परमात्मा के तत्व का यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब उसकी मुक्त, संज्ञा हो जाती है। जीव संज्ञा अनादि और अन्त वाली है जो अनादि काल से परन्तु मिट सकती है। जब यह शरीर स्थूल शरीर में आता है और जाग्रतावस्था में रहता है उस समय इसका चौबीस तत्वों वाले का तीनों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) शरीर और पांचों कोषों से सम्बन्ध रहता है, जब प्रलय या स्वप्नावस्था को प्राप्त होता है तब इसका प्रकृति सहित सत्रह तत्वों के सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध रहता है। जब यह ब्रह्माजी के शान्त होने पर महा प्रलयों में सुषुप्ति-अवस्था में रहता है तब इसका केवल प्रकृति के साथ सम्बन्ध रहता है। इसी को कारण शरीर कहते हैं जो मूल प्रकृति का एक अंश है। सर्ग के अन्त में गुण और कर्मों के संस्कारों का समुदाय कारण रूपा प्रकृति में लय हो जाता है और सर्ग के आदि में पुनः उसीसे प्रकट हो जाता है। उसी गुण कर्म समुदाय के अनुसार ही परमेश्वर सम्पूर्ण भूत प्राणियों को संसार में रचते हैं। भगवान कहते हैं—

सर्व भूतानि कौन्तेय
प्रकृतिं यांति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि
कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

—गीता

हे अर्जुन! कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं। अर्थात् प्रकृति में लय होते हैं। कल्प के आदि में उनको फिर रचता हूं। जीव में जो चेतनता है वह परमात्मा का अंश होने से वस्तुतः परमात्मस्वरूप ही है। अतः चेतनत्व को अनादि और अनन्त ही मानना चाहिये, परन्तु जीव के साथ जो प्रकृति का सम्बन्ध है अनादि वह और सान्त है, क्योंकि प्रकृति स्वयं ही अनादि एवं सान्त है।

प्रकृति के दो भेद हैं—एक विद्या, दूसरी अविद्या। विद्या के द्वारा परमात्मा संसार की रचना करते हैं और अविद्या के द्वारा जीव मोहित हो रहे हैं। जीव जब अविद्या जनित रज और तम को लांघकर सत्व में स्थित हो जाता है तब उसके अंतःकरण में विद्या अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति होती है। फिर उस ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होने पर वह ज्ञान भी स्वयमेव शान्त होता है।

जैसे काठ से उत्पन्न अग्नि काठ को जला कर स्वयं भी शान्त हो जाती है। इसी तरह शुद्ध अन्तःकरण में उत्पन्न ज्ञान अज्ञान को मिटाकर स्वयं भी मिट जाता है। उस समय यह जीव विद्या और अविद्या उभयरूप प्रकृति से सर्वथा मुक्त होकर सच्चिदानन्द घन परमात्मा के स्वरूप को अभिन्न रूप से प्राप्त हो

जाता है। इसी को अभेद मुक्ति कहते हैं फिर उसकी दृष्टि में न ज्ञान है और न अज्ञान ही है। वह सम्पूर्ण उपाधियों से रहित केवल शुद्ध चेतन स्वरूप है। उसके स्वरूप का वर्णन हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह वाणी से अतीत है। वर्णन की बात तो अलग रही, उसकी स्थिति को मन बुद्धिसे समझ लेना भी अत्यन्त दुर्गम है, क्योंकि वह मन बुद्धि से परे है। उसके सम्बन्ध में जो कुछ भी वर्णन, मनन या निश्चय किया जाता है, वस्तुतः वह इन सबसे अत्यन्त विलक्षण है। उसकी विलक्षणता को समझ लेना मनुष्य की बुद्धि से बाहर की बात है। जिसको वह स्थिति प्राप्त है, वही इस बात को समझता है। वस्तुतः यह कहना भी केवल समझाने के लिए ही है।

एक ही निराकार आकाश जिस प्रकार अनेक भिन्न भिन्न घड़ों के सम्बन्ध से उनमें भिन्न भिन्न रूपसे प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक ही जल विशेष सर्दी के कारण ओलों के रूपमें परिणित होकर अनेक रूप में भासता है इसी प्रकार एक ही चेतन प्रकृति के सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत हो रहा है। यद्यपि घटाकाश में कोई भिन्नता नहीं तथापि उपाधि भेद से वह आकाश विभिन्न नाना रूपों में दिखलाई पड़ता है परन्तु जिस प्रकार घटाकाश महाकाश का अंश है, ठीक उसी प्रकार जीव परमात्मा का अंश नहीं है क्योंकि आकाश निराकार निर अवयव तो है, परन्तु जड़ होने के कारण उसमें जैसे देश के विभाग की कल्पना की जाती है, वैसे विज्ञानानन्द परमात्मामें देश और काल से सर्वथा अतीत होने के कारण उसमें आकाश की भांति अंश-अंशी भावकी कल्पना नहीं की जा सकती। वास्तव में परमात्मा के अंशांशी भाव की कल्पना को बतलाने वाला संसारमें कोई दूसरा उदाहरण है ही नहीं। दूसरा स्वप्न का उदाहरण भी दिया जाता है। जैसे एक ही जीव स्वप्नावस्थामें मनसे कल्पित सृष्टि को रचकर आपही अपने अनेक रूपों की रचना कर सुख दुःख को प्राप्त होता है ऐसी स्थिति उसमें नहीं होती।

## अस्तेय

दूसरे की चीज उसकी इजाजत के बिना न लेना, इतना ही इस व्रत के पालन के लिए काफी नहीं है। जो चीज जिस काम के लिए मिली हो उसका उससे दूसरा उपयोग करना या जितनी मुद्दत के लिए मिली हो उससे ज्यादा मुद्दत तक उसे काम में लाना भी चोरी है।

इस व्रत के मूल में सूक्ष्म सत्य तो यह रहा है कि परमात्मा प्राणियों के लिए रोज की जरूरत की चीजें ही रोज पैदा करता है और उन्हें देता है। उससे ज्यादा जरा भी पैदा नहीं करता। इसलिए आदमी अपनी कम से कम जरूरत से ज्यादा जो भी लेता है वह चोरी का लेता है।

# योगिराज श्री तैलंग स्वामी

श्री पं० कृष्णकुमार पाण्डेय

परम कृपालु श्री सद्गुरुदेव भगवान के ये उद्बोधक वचन हैं कि योगी बनो। इसी बात को गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के लिए कहते हैं कि—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन
(गीता ८/२७)

अर्थात् हे अर्जुन ! तुम सब कालमें समत्व बुद्धि रूप योग से युक्त हो, क्योंकि आगे पुनः कहते है—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥
(गीता ८/२८)

क्योंकि योगी पुरुष वेदोंके पढ़ने, यज्ञ, तप और दान आदि के जो पुण्य फल कहे गये है, उन सबको निःसन्देह उल्लंघन कर जाता है और सनातन परमपद को प्राप्त कर लेता है।

योगी इस प्रकृति-जगत के व्यापारों से ऊपर उठ जाता है, योगबल से ही विश्वामित्र जी ने त्रिशंकु के लिए नये स्वर्ग का विस्तार कर दिया था। योगबल से ही गोखुर में डूबने वाले अगस्त्य समुद्र पी गये। योगबल से ही अगस्त्य ने ही इल्विल विल्विल राक्षस को भक्षण कर अपान वायु से बाहर निकाल दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि योगी का स्थान सर्वोपरि है। अर्जुन को ही सम्बोधित कर भगवान फिर कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
(गीता ६/४६)

अर्थात् योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्र के ज्ञान से महान है तथा सकाम कर्म करने वालों से योगी श्रेष्ठ है। इससे हे अर्जुन ! तू योगी बन। आगे भगवान यह भी बताते हैं कि किस प्रकार के योगी उनको अत्यन्त प्रिय है—

योगिनामपि सर्वेषां,
मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां,
स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६/४७)

प्रिय अर्जुन ! सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान योगी मुझमें लगे हुए है, अन्तरात्मा से जो निरन्तर मुझे भजते है, वह योगी परम श्रेष्ठ और मुझे प्रिय है।

योगियों की बहुत सी कथायें हैं। योग का ही प्रभाव था कि स्वामी विवेकानंद अमेरिका में सात दिन तक लगातार बोलते रहे। योग के बारे में कहा जाता है कि—

यस्मिन ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातम् भवति

जिसके जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है, वह परम दिव्य विद्या योग है। उद्धृत लेख में एक ऐसे ही योगी की कथा कहने का अल्प प्रयास है—

श्री तैलंग स्वामी आन्ध्र प्रदेश के होलिया नामक गाँव की विभूति थे। जिस घर में ऐसे दिव्य पुरुष का अवतार होगा, निश्चय ही उसके माता-पिता धर्मनिष्ठ होंगे। अत्यन्त पुण्यवान, ज्ञानवान होंगे। पिता पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत के पालक श्री नरसिंह राव और माता तपःपूत परम तपस्विनी विद्यावती की कोख से श्री तैलंग जी महाराज का आविर्भाव हुआ था। वास्तव में ऐसे लोग इस भूतल पर आकर लोक-कल्याण करते हैं, इसलिये घर-बारसे निस्पृह होते हैं। आये और कार्य प्रारंभ कर दिया। कार्य हुआ धीरे से खिसक गये। ऐसे ही योगियों के जन्म दाता बाबा गुरु (श्री रामलाल जी महाराज) थे। किसी ने जाना, कोई मात्र बाबा जी ही जान सका। ऐसे पुरुष की बुद्धि को क्या बात कही जाय, जो सुना याद हो गया। यानी आधुनिक युग के तो टेपरिकार्डर थे ये लोग। पिता शादी करना चाहते थे, परन्तु माता इन्हीं के (तैलंग जी) विचारों में सहमत थी। किन्तु ऐसे महा पुरुष शादी कर ले तो घर-गृहस्थी की आ पड़ेगी। इसलिये शुद्ध ब्रह्मचारी बने मस्तराम की तरह टहलना एकान्त में तीव्र साधना करना ही मात्र इनका काम रहता था।

श्री तैलंग जी के चालीस वर्ष की अवस्था में पिता तथा चौवन वर्ष की अवस्था में माता का देहान्त हो गया। अब क्या अब तो निर्द्वन्द्व हो गये थे। गुरुदेव योगिराज स्वामी श्री भगीरथानन्द सरस्वती के साथ तपस्या के लिए चल दिये। अठहत्तर वर्ष की अवस्था में संन्यास धारण किया, उस समय गुरुदेव जी ने गणपति सरस्वती नामकरण किया। गुरुदेवजी के पास से परिपूर्णता को प्राप्त कर लोक-कल्याण के निमित्त निकल पड़े। गुरु आश्रम से चलकर काशी पहुँचे, वहाँ से रामेश्वरम् आदि तीर्थों का भ्रमण करते रहे। रामेश्वरम् में एक मृतक परिवार को रोते-बिलखते देख कर स्वामी तैलंग जी के हृदय में दया का भाव उमड़ा, वे वहाँ गये और उस मृतक को हाथ से स्पर्श कर दिया, वह मृतक राम-राम कहते उठ बैठा। यह योगी की संकल्प शक्ति है। जिसके लिए संकल्प ले लिया, उसका कार्य सिद्ध हो गया। अब तो इनकी प्रसिद्धि और हो गई। स्वामी जी ऐसे ही भ्रमण करते हुए नेपाल के घने जंगलों में जा पहुँचे। वहाँ उपयुक्त जगह देखकर स्वामी जी ने तपस्या करनी शुरू कर दी। एक दिन वहाँ का राजा

शिकार खेलने के उद्देश्य से एक बाघ को शिकार का लक्ष्य बनाये परिजनों के साथ रथ से दौड़ लगाये चला आ रहा था। थोड़ी देर में शेर डर कर स्वामी जी के पैरों के पास चिपक गया और कुत्तों की तरह दुम हिलाने लगा। डरा हुआ जानकर स्वामी जी ने हाथ से शेर की पीठ थपथपा दी। तब तक राजा भी वहाँ आ पहुँचा, परन्तु वह तो दंग रह गया, क्योंकि जिसके लिए वह आयुध लेकर पीछा कर रहे थे, वह तो कुत्ते की तरह इस महात्मा के पैरों को चाट रहा है। इसको देखकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने स्वामी जी के पास जाकर पूछा—महाराज हम लोग डरकर आयुध से ही इसका सामना करते हैं। आप में कौन सी शक्ति है, जिसके कारण यह कुत्ता बना हुआ है। मेघ जैसी गम्भीर वाणी में स्वामी जी ने कहा—राजन् अपने मन से हिंसा एवं वैरभाव निकाल दो। फिर यह शेर तुम्हारा कुछ नहीं करेगा। क्योंकि इन पशुओं में इसकी परख बड़ी तीव्र होती है।

१७३७ में स्वामी जी पुनः भ्रमण करते वाराणसी आ गये। यहाँ के लोग इन्हें तैलंग स्वामी के नाम से जानते थे। स्वामी जी प्रायः नंग-धड़ंग रहा करते थे। यहाँ पर उन्होंने बहुतों को जीवन दान दिया। एक बार एक महाराष्ट्रीय महिला ने इनको नंगा देखकर कुछ कटु शब्दों का प्रयोग कर दिया। बाबा को इससे क्या लेना, आप तो अपने राम में सदा मस्त रहते थे। लेकिन लोगों को कष्ट में नहीं देख सकते थे। रात्रि के समय महिला को स्वप्न हुआ—कि अरे पगली जिसकी तू पूजा करती है, वह वही विश्वनाथ रूप है। इस बात को जानकर महिला ने प्रातः आकर स्वामी जी से अपनी भूल के लिए क्षमा याचना की। स्वामी जी तो दया के खजाने ठहरे और आशीर्वाद देकर क्षमा कर दिया।

एक बार एक अंग्रेज गवर्नर इनको नंगे देखकर आग बबूला हो उठा। उसने सिपाहियों को आज्ञा दी कि इसको जेल में बन्द कर दो। सिपाही आकर पकड़ ले गये और जेल के सीकचों में ठूंस दिया। परन्तु स्वामी-जी को बांधना आसान नहीं था। अणिमा सिद्धि के द्वारा कब सीकचों से निकल गये किसी को पता भी नहीं चला। ऐसे ही दादा गुरु (महाप्रभु रामलाल जी) की भी कथा है। दूसरे दिन इनको पुनः पकड़ा गया और अंग्रेज गवर्नर के पास ले जाया गया। वकीलों ने कहा—लार्ड! ये पूर्ण योगिराज हैं। इन्हें मुक्त कर दें। इस पर उसने कहा—तो एक शर्त! जो हम खायेंगे वह ये खा सकते हैं। उसका इशारा मांस मदिरा की ओर था परन्तु योगिराज ने उसी से ही प्रश्न कर दिया, जो हम खायेंगे वह तुम खाओगे। वह गवर्नर बोला—हां! बस स्वामी जी भरी सभा में

अपने गुदा मार्ग के पास हाथ ले गये उस पर मल जैसा कुछ पदार्थ त्याग किया और दिखा-कर खा गये। जब ऐसा किया तो पूरा कमरा सुवासित हो गया। इनको इस प्रकार खाते देखकर वह अंग्रेज गवर्नर घबड़ा गया। वह इनके पैरों पर गिर पड़ा और क्षमा माँगी। स्वामी जी ने क्षमा कर दिया। अब तो इन्हें कोई छेड़ने वाला नहीं था। परन्तु जिसकी कोई कामना रहती वह अवश्य स्वामी जी की सेवा सुश्रूषा कर अपने मनो-वांछित फल को प्राप्त कर लेता था।

स्वामी जी का विराट आध्यात्मिक जीवन योग की पूर्ण साधना से गठित था। एक बार रामकृष्ण परमहंस ने तैलंग स्वामी का दर्शन कर अपने शिष्यों से कहा—देखो साक्षात् विश्वनाथ इनके शरीर का आश्रय ग्रहणकर प्रकट हो रहे हैं। उन्हें शरीर का कोई ज्ञान नहीं है। इस भयंकर धूप से बालू इस तरह तपी हुई है कि कोई पाँव नहीं रख पा रहा है। स्वामी जी उस तप्त बालुका में निश्चिन्त सोये पड़े हैं। रामकृष्ण जी स्वामी जी को पूर्ण ईश्वर रूप में मानते थे। एक दिन आधे मन की खीर बनाकर स्वामी जी को खिला-कर परम आनन्दित हुए। काशी वासी तो उन्हें साक्षात् विश्वेश्वर समझते थे। इनके बारे में लाहड़ी महाशय ने कहा—जिस पद की प्राप्ति के लिए लोगों को लंगोट का परि-त्याग करना पड़ता है, उस अवस्था को धोती कुर्ता पहने इस व्यक्ति ने अनायास ही प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार स्वामी जी की अनेक योग की चमत्कार पूर्ण कथायें प्रसिद्ध हैं।

स्वामी जी ने २८० वर्ष की अवस्था को पूर्ण कर जब देखा कि ये चोल की पोल काम नहीं कर रही है तो पंचगंगा घाट पर एक विशाल जन-समूह के समक्ष महा प्रस्थान कर गये। ऐसे विभूतिवान योगिराज तैलंग स्वामी थे, जो समस्त योग की सिद्धियों को आत्म सात किये हुये थे। भारत वर्ष के कोने-कोने में घूम-घूम कर मात्र लोक कल्याण करते थे।

## ❀ उत्तम शिष्य के लक्षण ❀

जो श्रद्धालु हो, गुणवान हो, परनिन्दा से दूर रहता हो, साधना अभ्यास में आलसी न हो, विद्वान हो, शास्त्रोक्त कर्म करता, क्षमाशील हो, सर्व हितैषी हो, एकान्त सेवी हो, विषादहीन हो, बहुत अधिक जानकारी रखता हो, किसी का अहित न चाहता हो, संयमी हो, मन को वश में रखता हो, वही सद्गुरु उपदेश पाने का अधिकारी होता है।

# यौगिक प्रश्नोत्तरी

आश्रम का शुद्ध वातावरण है। योगाभ्यासी लोग उठ चुके हैं। ब्रह्मचारी वर्ग अपनी-अपनी हठयोग की साधना में नियमानुसार लग चुके हैं। आश्रम में ठहरा हुआ गृहस्थ समुदाय भी अपने-अपने नित्य कृत्यों से निपट करके श्री गुरुदेव जी की आज्ञानुसार अपनी-अपनी आसन, बन्ध, मुद्रायें आदि का अभ्यास करके जैसा जिसको आदेश था अपने-अपने ध्यानाभ्यास में बैठ गये। थोड़ी देर के बाद सभी नैत्यिक साधनाओं से निवृत्त हो गये। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की आरती पूजन एवं गीता पाठ आदि के बाद नैत्यिक सत्संग का कार्य आरम्भ हो गया। उनमें से एक जिज्ञासु ने आकर प्रश्न किया—

प्रश्नः—हे गुरुदेव! कल के सत्संग में आपने सर्व चित्त वृत्ति निरोध को योग समझाया था और उसके साथ ही यह भी कहा था क्योंकि सूत्र में भगवान पतञ्जलि देव ने सर्व शब्द का ग्रहण नहीं किया है इसलिये सम्प्रज्ञात समाधि जिसमें बराबर अनुभूतियें रहा करती हैं वह भी योग ही है। सो आप कृपा करके मुझे सम्प्रज्ञात योग समझाइये। वह कितने प्रकार का होता है और साधक निरोध तक कैसे पहुँच पाता है?

उत्तरः—हे पुत्र! सुनो भगवान पतञ्जलि-देव ने सम्प्रज्ञात समाधि का इस प्रकार वर्णन किया है:—

वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितानुगत होने से सम्प्रज्ञात योग के चार भेद हैं जिनका वर्णन व्यासदेव जी महाराज अपने भाष्य में निम्नांकित पंक्तियों में करते हैं:—

वितर्कः—चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो=विचारः। आनन्दोः=ह्लादः। एकात्मिका। संविदस्मिता। तत्र प्रथमः चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलः अस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्बनाः समाधयः।

इनमें से वितर्कानुगत समाधि उसको कहते हैं जिसमें चित्त को ठहराने के लिये स्थूल विषयों का अवलम्ब लिया जाता है। जैसे अग्नि, जल, वायु, आकाशादि स्थूल महाभूत हैं और विचारानुगत समाधि में स्थूल

महाभूतों से होने वाली सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला साक्षात्कार और आनन्दानुगत समाधि में योगी की अह्लादात्मिक स्थिति और उसके बाद में अस्मितानुगत योग में केवल मात्र अस्मि प्रत्यय का आभास होता रहता है। सम्प्रज्ञात समाधिजन्य और योग के भेदों की स्थितियाँ योगी को स्वतः ही सिद्ध होती चली जाया करती हैं। बात तो केवल मात्र एक है कि मनुष्य को अपने अभ्यास से पीछे नहीं हटना चाहिये। उसके बाद 'योगिनो योग एव उपाध्यायः' अर्थात् योगी का योग ही साधक का गुरु बन जाया करता है। जैसे वह सर्व शक्तिमान आदि गुरु परमात्मा घट-घट वासी अन्तर्यामी एवं प्राणी मात्र का उत्प्रेरक है। साधक अपने अभ्यास के द्वारा जिस भूमिका को पार कर जाता है, उसके बाद उस परम गुरु परमात्मा की कृपा से उससे आगे की दूसरी भूमिका उसके सामने प्रकट हो जाया करती है। पूर्व भूमिका के दृश्य फिर उसके सामने नहीं आते। उदाहरण के तौर पर एक योगी जब वितर्कानुगत समाधि का अभ्यास करता है और निरन्तर अभ्यास के बल से उस भूमिका में दृढ़स्थितिक हो जाता है तो उसके अभ्यास में स्वतः ही आगे की भूमिका के दृश्य आने लगते हैं और जब आगे की भूमिका के दृश्य आने लगते हैं तो उससे पहले की भूमिका के दृश्य आने बन्द हो जाया करते हैं। इसी कारण से श्री व्यासदेव जी महाराज ने अपनी पंक्तियों में इसका बिल्कुल स्पष्टीकरण कर दिया है। जैसे वितर्क विकलः सविचारः और उसके बाद विचार विकलः सानन्दः अर्थात् जिस समय योगी वितर्कानुगत समाधि में जय प्राप्त कर लेगा तो उसका अभ्यास समाप्त हो जाने के बाद फिर विचारानुगत योग में वितर्कानुगत के दृश्य नहीं आयेंगे। और जब द्वितीय श्रेणी विचारानुगत को अपने अभ्यास के बल से जीत लेगा तो स्वतः ही आनन्दानुगत समाधि का आरम्भ हो जायेगा और उस आनन्दानुगत समाधि में फिर दोबारा विचारानुगत के दृश्य नहीं आयेंगे। ठीक इसी प्रकार से आनन्दानुगत और अस्मितानुगत की बात भी है। ज्यों-ज्यों योगी उत्तर भूमिकाओं में जय प्राप्त कर लेता है त्यों-त्यों उसको निम्न श्रेणी की भूमिकाओं के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती और उस परम गुरु परमात्मा की कृपा से उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ता चला जाता है।

प्रश्नः— हे गुरुदेव आप कृपा करके यह बतलाइये कि साधक को यह योग किस प्रकार से प्राप्त होता है? क्या योगाभ्यासी को अपनी शक्ति पर यह सब साधना आधारित है या कोई और भी उपाय है? मैंने कई जगह पर ऐसा देखा है कि कितने ही साधकों को तो जन्म लेने मात्र से ही योग ज्ञान हो जाता है। और कितने ही ऐसे हैं कि काफी प्रयत्न करने

के बाद भी उनको स्थिति उपलब्ध नहीं हो पाती।

उत्तरः—हां पुत्र ! ऐसा हुआ ही करता है जो जन्म जन्मान्तर के अभ्यासी हैं चाहे वे अनन्तकाल तक स्वर्ग में वास करके आये हों उनको जन्म ग्रहण करते ही अपने जन्म जन्मान्तर के किये अभ्यास की स्मृति कायम हो जाती है और बिना किसी के प्रयास ही वे लोग लब्धभूमिक हो जाया करते हैं। भगवान पतञ्जलि देव योग दर्शन में स्वयं ही इस बात का स्पष्टीकरण अपने शब्दों में करते हैं—

भव प्रत्ययो विदेह
प्रकृति लयानाम्।

अर्थात् विदेह एवं प्रकृतिलीन योगियों को जन्म लेने मात्र से ही योग ज्ञान की प्रतीति हो जाया करती है।

इस सूत्र के अनुसार संसार में जन्म लेने वाले प्राणियों को इस योग की प्रतीति दो ही प्रकार से होती है उनमें पहले प्राणी वे है जो अपने जन्म जन्मान्तर के अभ्यास से सम्प्रज्ञात योग की वितर्क और विचारानुगत समाधि में पूर्णतः प्रविष्ट हो चुके है और बाद में अभी तक निर्बीज समाधि तक नहीं पहुँच पाये थे अभी उनको विवेक ख्याति नहीं हुई थी। इसी अवस्था में ही उनका देहपात हो गया। ऐसे योगी दो प्रकार के होते है—

(१) विदेह और (२) प्रकृति लीन।

१—विदेह—वे कहलाते है जो वितर्क समाधि द्वारा स्थूल महाभूतों का और उनके विशेषों का पूर्ण साक्षात्कार कर चुके हैं इसलिये वे शरीर की असलियत को समझ करके देहाभिमान से शून्य हो चुके हैं और इतनी साधना के बाद उनका शरीर छूट गया और वे सम्प्रज्ञात योग की आगे की सीढ़ियों तक नहीं पहुँच सके अतः वे लोग विदेह कहलाते हैं और देव कोटि में माने जाते हैं।

२—प्रकृतिलीनः—वे योगी हैं जो स्थूल महाभूतों और उनके गुणों का पूर्ण साक्षात्कार करते हुये निर्विचार समापत्ति में पंच तन्मात्र अहङ्कार और महत्तत्व और प्रकृति का साक्षात्कार कर चुके हैं वे अभी तो प्रकृति के इन सूक्ष्म तत्वों का साक्षात्कार करते हुये इन्हीं में लीन रहे हैं। आगे की भूमिकाओं को तय नहीं कर पाये अचानक देहपात हो गया। इसलिये वे लोग प्रकृतिलीन कहलाते हैं। ये भी प्राणी देव कोटि में माने जाते हैं इसलिये भगवान व्यासदेव जी ने इन लोगों के लिये—

विदेहानां देवानां भव प्रत्ययः तेहि स्वसंस्कार मात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्य पदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीयकमीत वाहयन्ति तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्य पदमिवानु भवन्ति यावन्न पुनरावर्त्तेऽधिकार वशाच्चित्तमिति। कैवल्य पदमिवानु भवन्ति।

कहकर भगवान व्यासदेव जी ने इनको

मुक्ति पद में तो नहीं माना किन्तु मोक्ष जैसी स्थिति को ये लोग प्रकृतिलीन होते हुये भी मोक्ष पद जैसा अनुभव करते हैं। क्योंकि अभी इनका ग्रन्थि भेद नहीं हुआ अर्थात् विवेक ख्याति को प्राप्त नहीं हुये। इसलिये इनका चित्त साधिकार है और अधिकार वश इन लोगों का संसार में जन्म होता है क्योंकि पिछले जन्म जन्मान्तरों में इनकी योग में ऊंची प्रगति रही थी इसलिये बहुत लम्बे समय तक ये विदेह, प्रकृति लीन रहते हुये भी अपने आपको मुक्त आत्माओं की तरह अनुभव करते रहे थे। बुद्धि के आह्लाद, आमोद प्रमोद आदि विशेष भावों में लीन हुये अपने आपको आनन्द मग्न मोक्ष रूप देखते रहे थे किन्तु विवेक ज्ञान के हुये बिना इनका चित्त साधिकार है इसलिए इन्हें संसार में दुबारा जन्म लेना पड़ता है और जन्म से ही इनको पूर्व जन्म जन्मान्तरों में जो अभ्यास किया था उसकी प्रतीति होने लगती है और उस स्थिति को पा करके जल्दी ही अपने पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इन लोगों को कुछ हानि नहीं हुई क्योंकि ये लोग विदेहावस्था में व प्रकृति लीनावस्था में परमानन्द में रहे तथा जन्म लेने पर अनेक जन्मों में किया हुआ अभ्यास सामने आया और पुनः उसी योग समाधि में प्रवृत्त हो गये। इसी प्रकार का प्रश्न गीता के छठवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण जी से अर्जुन ने किया—

अयतिः श्रद्धयोपेतो,
योगाच्चलित मानसः ।
अप्राप्य योग संसिद्धि,
कां गति कृष्ण गच्छति ।।
कच्चिन्नोभय विभ्रष्ट-
श्छिन्ना भ्रमिते नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो,
विमूढो ब्रह्मणः पथि ।
एतन्मे संशय कृष्ण,
छेत्तुमर्हस्य शेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य,
छेत्ता न ह्युपपद्यते ।।

—गीता ६—३७/३८/३९

अर्थात् अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण जी से प्रश्न करता है कि हे श्रीकृष्ण ! जो व्यक्ति श्रद्धा से युक्त है और अपने आपको काबू में नहीं रख सका है और योगाभ्यास करते-करते जिसका मन विचलित हो गया है वह योग सिद्धि को न पा करके किस गति को प्राप्त होता है ? कदाचित् उभय भ्रष्ट हो करके फटे हुये बादल की तरह से नष्ट भ्रष्ट तो नहीं हो जाता, क्योंकि अभी उसने अपने स्वरूप में स्थिति नहीं पायी और ब्रह्मज्ञान को नहीं पा सका। मेरे इस संशय को नाश करने वाला आपके अतिरिक्त हे श्रीकृष्ण दूसरा कोई नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुये भगवान श्रीकृष्ण जी ने कहा—

[ शेष पृष्ठ टाइटिल ३ पर पढ़िये ]

( पृष्ठ ४८ का शेष )

पार्थ नैवेह नामुत्र,
विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्-
दुर्गतिं तात गच्छति ॥
प्राप्य पुण्यकृतांलोकानु-
षित्वा शाश्वती समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे,
योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
अथवा योगिनामेव
कुले, भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके,
जन्म यदीदृशम् ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं,
लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः,
संसिद्धौ कुरुनन्दनः ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव,
ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य,
शब्द ब्रह्मातिवर्तते ॥
प्रयत्नाद्यत मानस्तु,
योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्म संसिद्धस्ततो,
याति परां गतिम् ॥

—गीता ६-४०/४१/४२/४३/४४/४५

भगवान श्री कृष्ण जी उत्तर देते हैं कि हे अर्जुन ! ऐसे पुण्यात्माओं का इस लोक व परलोक में कहीं भी पतन नहीं होता । कोई भी शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता । वे लोग पवित्र पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होकर बहुत समय तक वहां रहकर पुनः पवित्र श्रीमानों के घरों में ही जन्म ग्रहण करते हैं या बुद्धिमान योगियों के घरों में ही जन्म होता है। इस मनुष्य लोक में इस प्रकार का जन्म ग्रहण करना भी अत्यन्त दुर्लभ है और ऐसा जन्म हो जाने के बाद उन योगियों को अपना पौर्व देहिक बुद्धि संयोग प्राप्त होता है और उस बुद्धि संयोग को पा करके वे लोग पुनः सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं क्योंकि पूर्व जन्मों में उन्होंने इस प्रकार का योगाभ्यास किया था इसी कारण से विवश हो करके उनको इस मार्ग में लगना पड़ता है । योग मार्ग का जिज्ञासु भी कर्म कामना के विषय से ऊँचा उठ जाता है और प्रयत्न पूर्वक यत्न करता हुआ अपने सब पापों को धो करके अनेक जन्मों के प्रयत्न से परमगति को पा लेता है । इसीलिये भगवान पतञ्जलि जी की आज्ञानुसार जो लोग सम्प्रज्ञात समाधि में ही किसी प्रकार विफल हो जाते हैं और निर्बीज समाधि को प्राप्त नहीं हो पाते हैं उनको जन्म से ही इस योग की प्रतीति होती है और वे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं ।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 June. 1985

प्रेषक कार्यालय :—

# सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुरु योग प्रशिक्षण केन्द्र, सराई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री.......................................

...........................................

...........................................

...........................................

## जीवन की पूर्णिमा

क्या मेरे जीवन में भी कभी ऐसी ही प्रकाशमयी पूर्णिमा दिखाई देगी ? मेरे जीवन की पूर्णिमा कब होगी ? मेरा जीवन अन्धकार से शून्य तथा प्रकाश से परिपूर्ण किस दिन होगा ?

जीवन में अन्धकार का भाग अविवेक और अज्ञान की अवस्था है। जैसे-जैसे ज्ञानार्जन द्वारा अविवेक का अंश कम होता जाता है, वैसे ही वैसे जीवन प्रकाशित होता जाता है। पर, ज्ञानार्जन खेल नहीं है। इसके लिए घोर तपश्चर्या करनी पड़ती है।

ज्ञानार्जन कुछ सूचनाओं को एकत्रित करने का नाम नहीं है। सूचनाओं का भार-वहन करने वाले गर्दभरूपी मानव तो यहां अनेक दिखाई पड़ जायेंगे, पर ज्ञानी शब्द को सार्थक सिद्ध करने वाले मानव विरले ही मिलेंगे।